

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180784

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 1182

Accession No. 1145

Author 2235

Lachman Singh, Raj

Title

213-1111 1129

This book should be returned on or before the date last marked below.

शकुन्तला नाटक

—:0:—

SHAKUNTALA

OR

THE LOST RING

BY

RAJA LACHMAN SING

Price one Rupee

ALLAHABAD
RAM NARAIN LAL
PUBLISHER AND BOOKSELLER

1923

संकेत

—:~:—

नाटक के आरम्भ में एक ब्राह्मण रङ्गभूमि में आकर सभा को आशीर्वाद देता है इस आशीर्वाद को नान्दी कहते हैं। फिर नाटक खेलने वालों का मुखिया जो सूत्रधार कहलाता है सभा के सामने कुछ बात चीत करके कहता है कि आज अमुक नाटक का खेल किया जायगा और खेलने वालों को जताता है कि सावधानी से खेलो, तिस पीछे कुछ गान आप करता है कुछ किसी और पात्र से कराता है इस बातचीत को प्रस्तावना कहते हैं।

जैसे साधारण ग्रन्थों के भाग काण्ड वा अध्याय वा पर्व वा सर्ग इत्यादि कहे जाते हैं वैसे ही नाटक के भागों को अङ्क कहते हैं और जो कोई अधिक प्रसङ्ग किसी अङ्क की आदि में आता है वह विष्कम्भ अथवा प्रवेशक अथवा गर्भाङ्क कहलाता है।

नाटक पढ़ने अथवा देखने वालों की सुगमता के निमित्त और नाटक करने वालों की शिक्षा के लिये नाटक के ग्रन्थों में कुछ चिन्ह ऐसे लिखे जाते हैं जो साधारण ग्रन्थों में नहीं होते। वे चिन्ह ये हैं—

- १—जिस जगह नाटक खेला जाता है वह रङ्ग-भूमि कहलाती है और परदों के भीतर जिस जगह खेलने वाले भेस पलटते हैं अथवा खेल कर खले जाते हैं उसका नाम नेपथ्य है।

- २—जो खेल इस प्रकार () के कोष्ठ में आता है वह किसी नाटक के पात्र का वचन नहीं, किन्तु पढ़ने वालों अथवा खेलने वालों के समझाने के लिये है ।
- ३—जहाँ कोष्ठ के भीतर “ आप ही आप ” लिखा है वहाँ समझना चाहिये कि इससे आगे का वचन प्रगट नहीं कहा गया, हौले हौले ऐसे कहा गया है मानों कोई नहीं सुनता और जहाँ कोष्ठ में “ प्रगट ” लिखा है वहाँ जानो कि आगे का कथन सब के सुनने के लिये है ।
- ४—जहाँ लिखा है कि अमुक आता है अथवा जाता है इससे जानना चाहिये कि वह पात्र नेपथ्य से रङ्ग-भूमि में आया अथवा रङ्ग-भूमि से नेपथ्य में गया ।
-

नाटक पात्र

दुष्यन्त—हस्तिनापुर का पुरुवंशी राजा ।

मादव्य—दुष्यन्त का सखा और विदूषक ।

कन्व—तपोवन के ऋषियों का मुखिया और शकुन्तला का मुँह
बोला बाप ।

शारङ्गरव } कन्व के चेले ।
शारङ्गव

मित्रावसु—दुष्यन्त का साला और हस्तिनापुर का कोतवाल ।

कुम्भिलक—शक्रावतार तीर्थ का धीमर अर्थात् मछवा ।

जानुक } —प्यादे ।
सूचक

वानायन } —रनवास का रखवाला ।
प्रतिहारी

सोमरात—राजा का पुरोहित ।

करभक—दूत ।

रैवतक—द्वारपाल ।

मातलि—इन्द्र का सारथी ।

सर्वदमन—दुष्यन्त का बेटा शकुन्तला से । इसी का नाम भरत
हुआ जिससे हिन्दुस्थान भारतवर्ष और भरतखण्ड
कहलाता है ।

कश्यप—एक प्रजापति जो मरीचि का बेटा और ब्रह्मा का पोता
और देव दानवों का पिता था ।

गालव—कश्यप का चेला ।

शकुन्तला—विश्वामित्र की बेटी, मेनका अप्सरा के गर्भ से और
कन्व मुनि की मुँह बोली पुत्री ।

प्रियम्बदा } —शकुन्तला की सहेली ।
अनसूया }

गौतमी—एक बूढ़ी तपस्विनी ।

वसुमती—दुष्यन्त की रानी ।

सानुमती—एक अप्सरा और शकुन्तला की सखी ।

तरलिका—वसुमती की दासी ।

चतुरिका—एक दासी जो राजा के निकट रहती थी ।

वेत्रवती } —रनवास की द्वारपालनी ।
प्रतीहारी }

प्रभतिका } —उद्यान रखाने वाली दो युवती ।
मधुपिका }

सुवता—सर्वदमन को खिलाने वाली ।

अदिती—कश्यप मुनि की स्त्री दत्त की बेटी और ब्रह्मा की पोती ।

राजा का सारथी वा ढाड़ी वा तपस्विनी वा यवनी ।



शकुन्तला नाटक

प्रस्तावना

—:०:—

रङ्गभूमि में ब्राह्मण आशीर्वाद देता हुआ आता है ।

कृष्ण

- (१) आदि सृष्टि एक नाम एक बिधिहुतवाहन ।
बहुरि नाम यजमान जोति है काल बतावन ॥
एक सर्वव्यापीक ध्वन गुन जात पुकारा ।
भूत प्रकृति फिर एक जनित अग जग संसारा ॥
गनिये जु जीव आधार पुनि अष्टमूर्ति इनते कहत ।
शङ्कर सहाय तुम्हारी करें नितप्रति तिन ही में रहत ॥

सूत्रधार आता है ।

सूत्रधार—(नेपथ्य की ओर देख कर) अजी सिङ्गार कर चुकी हो
ती आओ ।

- (१) जिस को कर्त्ता ने सृष्टे की आदि में रचा अर्थात् जल, और जो बिधि पूर्वक
दिये हव्य को लता है अर्थात् अग्नि, और जो यज्ञ करता है अर्थात् होत्री,
और दोनों ज्योति जिन से समय विधान होता है अर्थात् चन्द्र-सूर्य, और
वह विश्वव्यापी जिसका गुण शब्द है अर्थात् आकाश, और वह जिस की
प्रकृति बीज की वृद्धि है अर्थात् पृथिवी, और वह जो जीव का आधार है
अर्थात् पवन, इन आठ मूर्तियों में जो ईश प्रत्यक्ष है अर्थात् महादेव जी,
सोई तुम्हारी रक्षा करें ।

नटी आती है ।

नटी—हाँजी मैं आई कहे कौनसी लीला करें ?

सूत्रधार—यह सभा हमारे यशस्वी राजा विक्रमाजीत की है, बड़े बड़े चतुर पण्डित इसमें विराजमान हैं, आज हमको कालिदास के बनाये अभिज्ञानशकुन्तला नाम नये नाटक की लीला करनी है, इससे सब कोई सावधान होकर खेले ।

नटी—तुम्हारा तो प्रबन्ध ही ऐसा अच्छा है कि किसी बात में न्यूनता न होगी ।

सूत्रधार—(मुसका कर) हे चतुरी ! अपना सिद्धान्त तो यह है—
 दोहा

(२) नाटक करतब तब भला, रोझै सजन समाज ।

नातर सोखे हू घने, दुचित रहत इहि काज ॥

नटी—(नम्रता से) सच है, अब क्या आज्ञा होती है ?

सूत्रधार—इससे उत्तम और क्या है कि सभा के आनन्द निमित्त कुछ गान करो ।

नटी—कौनसी ऋतु का गीत गाऊँ ?

सूत्रधार—ग्रीष्म अभी लगी है और क्रीडा के योग्य भी है, इससे इसी ऋतु का राग गाना चाहिये । देखो—

(२) नाटक की बड़ाई अभी है जब देखने वाले कहें कि अच्छा हुआ, नहीं तो इस काम में भले सीखे हुये को भी विश्वास नहीं होता कि खेल अच्छा ही करेंगे ।

ध्रुपद चौताला भैरवी वा धनासिरी

- (३) कैसे नीके लागत हैं बासर ऋतु ग्रीष्म के
जीवन कों सन्ध्या प्यारी सुख उमहति है ।
सरिता सरोवर कुण्ड माहिं केलि करिबे, ते
तरिबे ते देह दूना आनन्द लहति है ॥
घनी घनी छाया में बन की पवन लागे
भुकि भुकि आवे नींद कल न गहति है ।
त्रिविध समीर बहै पाटलि सुगन्धिसनी
लागति शरीर आछी शीतलता रहति है ॥

नटी—सख है ।

| गाली है

राग बहार वा बसन्त

- (४) कैसे भमर चुम्बन करत ।
नाग केसरि कों सुमङ्गल रहसि रहसिहि भरत ॥
सिरस फूलन कान धरि बनयुवति मन कों हरत ।
देत शोभा परम सुन्दर सरस ऋतु लखि परत ॥

-
- (३) ग्रीष्म के दिन कैसे अच्छे लगते हैं, साँझ समय मनुष्यों को अति आनन्द होता है, मन उगमता है, नदी और सरोवरों में नहाने से शरीर ठण्डा रहता है, घनी छाया में दन्दी और ठण्डी पवन पाटलि के फूलों की सुगन्धि लिये हुए आती है जिस के लगने से हृदय को सुख होता है ।
- (४) देखो और कैसे धीरे धीरे नागकेशर से रस लेंते हैं और उसे जल में भरते हैं, फिर देखो बनवासिनी नवयौवना सिरस के फूलों का कैसा गड़ना बना कर कान पर रखती हैं, यह ग्रीष्म ऋतु बड़ी सुन्दर है ।

सुत्रधार—धन्य है ! अच्छा गाया इससे सुन्ने वालों का खिस एकाम होकर, रङ्गभूमि चारों ओर चित्रालय के समान हो गई । अब कहो किस प्रकरण से सभा के सज्जनों को प्रसन्न करें ?

नटी—अजी क्या अभी नहीं कह चुके हो कि अभिज्ञान-शकुन्तला नाम नये नाटक की लीला करनी होगी ।

सुत्रधार—हे चतुरी ! भली सुध दिलाई नहीं तो मैं इस समय भूल ही गया था क्योंकि—

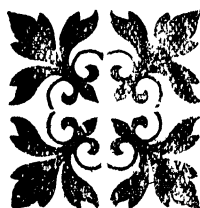
दोहा

(५) तू बरबस तेरी गयो, मधुर गीत मुहि सङ्ग ।

ज्यों राजा दुष्यन्त को, लायो यहै कुङ्कर ॥

[दोनों रंगभूमि से जाते हैं]

इति प्रस्तावना ।



(५) तेरा मधुर गीत मेरे मन को ऐसे खेंच ले गया जैसे राजा दुष्यन्त को यह हरिन खेंच लाया है ।

अंक (१)

स्थान वन

दुष्यन्त रथ पर चढ़ा हुआ धनुषवान लिये हरिन को खेदता सारथी
सहित आता है ।

सारथी—(पहिले हरिन की आर फिर राजा की आर देख कर) हे
आयुष्मान—

दोहा

(६) लखि कर सायर अरु तुम्हें, कर सायक सर चाप ।

देखत हूँ खेदत मनो, मृगहि पिनाकी भाप ॥

दुष्यन्त—हे सारथी ! यह मृग तो हमें दूर ले आया देखो कैसा—
बोपाई

(७) फिर फिर सुन्दर ग्रीवा मोरत ।

देखन रथ पाछे जो घोरत ॥

कबहुक डरपि बान मति लागे ।

पिछलो गात समेटत आगे ॥

अधरोथी मग दाभ गिरावत ।

थकित खुले मुखतें बिछरावत ॥

(६) जब दक्ष का यज्ञ महादेव जी ने विध्वंस किया तो मृग का रूप धर के यज्ञ भागा, महादेव जी अपना पिनाक नाम धनुष लेकर उसके पीछे गए, सारथी कहता है कि हे राजा ! इस हरिन के पीछे धनुष तान कर जाते हुए तुम मुझे ऐसे दीखते हो मानो महादेव जी जाते हैं ।

(७) पीछे आते हुए रथ को हरिन फिर फिर देखता जाता है, और बान लगने के डर से कभी कभी अगले शरीर से सिमटता है, मार्ग में उसके थके मुख से अधचाबी दाभ गिरी है, अब ऐसी कुलौंच भरता है मानो धरती पर पैर ही नहीं रखता ।

लेत कुलांच लखो तुम अबही ।
 धरत पाँव धरती जब तबही ॥

[चकित होकर

अब क्या किया जाय मुझे तौ हरिन सहज दिखलाई भी नहीं
 देता ।

सारथी—महाराज ! अब तक धरती ऊँची नीची थी इससे मैंने
 रथ रोक रोक कर चलाया था और इसी से यह कुरङ्ग
 दूर निकल आया, परन्तु अब भूमि एकसी आई इसे
 तुरन्त ले लेंगे ।

दुष्यन्त—तौ अब घोड़ों की रास छोड़े ।

सारथी—जो आज्ञा (मानो रथ को भर दौड़ चलाता है) महाराज !
 देखिये—

चौपाई

(८) जबहि रास ढीली मैं कीनी ।
 तानि देह अगली इन लीनी ॥
 चलत कनोती लई दबाई ।
 वरमशिखा हू हलन न पाई ॥
 देखो बढत इन्हें तुम आगे ।
 रज खुरतारहु सङ्ग न लागे ॥
 अब तुरङ्ग भपटत ये ऐसे ।
 सहि न सकत मृग बेगहि जैसे ॥

दुष्यन्त—(प्रसन्न होकर) सच है, ऐसे भपटते हैं कि इन्द्र और
 सूर्य के घोड़ों का भी जीते लेते हैं—

(८) रास ढीली होते ही ये घोड़े कनौती दबा कर ऐसे दौड़े हैं कि सिरकी
 वरमशिखा (कलङ्गी) भी नहीं हिलती और खुरों से उठी हुई धूल भी साथ
 नहीं लगती, अब ऐसे भपटते हैं मानो इस हरिन का वेग नहीं सह सके ।

चौपाई

(६) दीखति वस्तु रहीं जो छीनी ।
तिन अब तुरत बिपुलता लीनी ॥
जो दीखति ही बीच कटीसी ।
सो लखाति अब एक सटीसी ॥
सहज स्वभाव वक्र जो कोई ।
सरल रूप दीखति अब सोई ॥
छिन न दूर फलु छिनहु न नेरे ।
कारन अधिक बेग रथ करे ॥

सारथी ! देखा अब हम इसे गिराते हैं ।

[धनुष पर बान चढ़ाता है

(नेपथ्य में)—हे राजा ! इसे मत मारो, मत मारो, यह आश्रम का मृग है ।

सारथी—(शब्द सुनता और देखता हुआ) महाराज ! बान के सामने हरिन तो आया परन्तु बीच में ये तपस्वी खड़े हैं ।

दुष्यन्त—(चकित्सा होकर) अच्छा तौ घोड़ों को रोको ।

सारथी—(रथ को ठहराता है) जो आज्ञा ।

एक तपस्वी दो चेलों समेत आता है ।

तपस्वी (बाँह उठा कर) हे क्षत्री ! यह मृग आश्रम का है मारने योग्य नहीं है ।

(९) जो वस्तु दूर से पतली दीखती थी अब निकट आने पर मोटी दीखती है, जो कटी हुई सी थी वह अब जुड़ी हुई निकली, जो पहले नगीचे पर टेढ़ी थी अब पीछे दूर रह जाने पर सीधी दीखती है, इस रथ के वेग के आगे दूर और निकट में कुछ अन्तर ही नहीं है ।

दोहा

(१०) नाहिन या मृग मृदुल तन, लगन जोग यह बान ।

ज्यों फूलन की राशि में, उचित न धरन कृपान ॥

कहाँ दीन हरिनान के, अति ही कोमल प्राण ।

ये तेरे तीखे कहीं, सायक बज्र समान ॥

(११) लै उतारि यातें नृपति भलो चढ़ाये बान ।

निरदोषिन मारक नहीं यह तारक दुखियान ॥

दुष्यन्त—लो मैं बान उतार लेता हूँ ।

तपस्वी—(हर्ष से) हे पुरुकुलदोषक ! तुम्हें ऐसा ही चाहिये ।

दोहा

(१२) उचित तोहि भूपति यही, जन्म पौरकुल पाय ।

जनमैगो तो घर सुवन, गुनी चक्रवे आय ॥

दोनों चेले—(बाँह उठा करके) तुम्हारे चक्रवर्ती पुत्र हो ।

दुष्यन्त—(प्रणाम करके) ब्राह्मण वचन गिरमाथे ।

तपस्वी—हे राजा ! हम यज्ञ के लिये समिध लेने जाते हैं आगे

मालिनीतट पर कन्वमहर्षि का आश्रम दीखता है, अब-

काश हो तौ वहाँ चल कर अतिथि सत्कार लोजिये ।

(१०, ११) इस हरिन के कोमल शरीर में बान मारना ऐसा है जैसे फूलों के

ढेर पर आग रखना, भला देखो तौ कहाँ यह कठोर बान और कहाँ

हरिन के कोमल प्राण, इससे हे राजा ! तू बान उतार ले यह तौ निरदो-

षियों की रक्षा को बनाया है नकि उनके मारने को ।

(१२) हे राजा पुरुवंश में जन्म लेकर तुम को इस समय बान उतार लेना ही

उचित था, जाओ, हम आशीर्वाद देते हैं कि तुम्हारे चक्रवर्ती पुत्र होगा ।

दोहा

(१३) होत वहाँ जब देखिहो, आँखिन ते महाराज ।
बिग्नबिना तपसीन के, धर्मपरायन काज ॥
जानोगे नरनाह तब, तुम अपने मन माँह ।
केती रुच्छा करति यह, सुयोलाँखित बाँह ॥

दुष्यन्त—महर्षि आश्रम में हैं कि नहीं ?

तपस्वी—अपनी पुत्री शकुन्तला को अतिथि-सत्कार को आज्ञा देकर
उसी को ग्रहदशा निवारण के लिये सोमतीर्थ गए हैं ।

दुष्यन्त—मच्छा हम उस कन्या को देखेंगे और वह हमारा भक्ति-
भाव महर्षि से कहेगी ।

तपस्वी—सिधारिये हम भी अपने काम को जाते हैं ।

[चेलों समेत जाता है]

दुष्यन्त—हे सारथी ! धोड़े हाँको, इस पवित्र आश्रम के दर्शन करके
अपना जन्म सफल करें ।

सारथी—जो आज्ञा ।

[रथ को फिर बढ़ाता है]

दुष्यन्त—(चारों ओर देख कर) हे सारथी ! जो किली ने बतलाया
भी न होता तौ भी यहाँ हम जान लेते कि तपोवन
समीप है ।

सारथी—महाराज । ऐसे आपने क्या चिन्ह देखे ?

दुष्यन्त—क्या तुम को चिन्ह नहीं दिखाई देते । देखो—

(१२) उस आश्रम में जब तुम देखोगे कि तराखियों के धर्मकार्य कैसे निर्वर्ण
होते हैं तब जानोगे कि मेरी यह भुजा जिस में धनुष की प्रतिष्ठा के चिन्ह
ही आभूषण हैं कितने सत्पुरुषों की रक्षा करती है ।

चौपाई

- (१४) रुखन तर मुनि अन्न पसो है ।
 शुक कोटरसे यहजु गिसो है ॥
 कहुँ धरीं चिकन शिल दीसे ।
 इगुदिफल जिनपै मुनि पीसे ॥
 रहे हरिन हिलि ये मनुषन तैं ।
 नैक न चोक्त बोल सुनन तैं ॥
 सोहति रेख नदी तट बाटा ।
 बनी टर्पाकि जल बल्कल पाटा ॥

और देखो—

चौपाई

- (१५) पवन भकोरति है जलकूला ।
 बिटप किये जिन उज्जल मूला ॥
 नवपल्लव दीखत धुँधराए ।
 होमधुँआं जिन ऊपर छाये ॥
 उपवन अग्रभूमि के माँही ।
 कटि के दाभ रहे जहँ नाहीं ॥
 चरत फिरत निधरक मृगछोना ।
 जिनके मन शङ्का नैको ना ॥

- (१४) तपोवन के चिन्ह ये हैं कि तोतों की कोटरों से गिर कर सामा मकर की बाल रुखों के नीचे पड़ी हैं, जहाँ तहाँ हिंगोट वृटने की चिकनी शिखर खसी हैं, हरिन मनुष्यों से ऐसे हिल रहे हैं कि हमारा आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंकते, पगडाँडियों में नदी तक गाले कपड़ों से बूँद से टपक टपक कर कैसी लकीर बन गई है ।
- (१५) पवन के झेलारे हुए जल से नदी तट के वृक्षों की जड़ धुल धुल कर स्वेत निकल आई हैं, नई कोपलों के पत्ते होम का धुआँ लग कर धुँधले हो गये हैं, उपवन के आगे जिस भूमि से दाभ कट गई है उस में मृग छोने निशङ्क चरते फिरते हैं ।

सारथी—महाराज । अब मैंने भी तपोवन के चिन्ह देखे ।

दुष्यन्त—(थोड़ी दूर चल कर) हे सारथी । तपोवनवासियों के काम में कुछ बिग्न न पड़े, इससे रथ यहीं तैरा दो हम उतर लें ।

सारथी—मैं रास खँचता हूँ, महाराज उतर लें ।

दुष्यन्त—(उतर कर) तपस्वियों के आश्रम में विनीत भेष से जाना कहा है, इसलिये तो तुम ये लिये रहो (सारथी को धनुष और आभूषण देता है) और जब तक मैं तपोवनवासियों के दर्शन करके आऊँ तुम घोड़ों की पीठ ठण्डी कर लो ।

सारथी—जो आज्ञा ।

[जाता है]

दुष्यन्त—(घूम कर और देख कर) यह आश्रम का द्वार है अब मैं इस में चलता हूँ ।

[सगुन देख कर]

दाहा

(१६) शान्तिछेत्र आश्रम यहै, पुत्रहि याके माँह ।
कहा यहाँ फल देहिगो, फरकति मेरी बाँह ॥
अचरज हू की बात ना, फल याको यदि होइ ।
होनहार कहुँ ना रुके, जानत है सब कोइ ॥

(१६) यह तौ पुनछेत्र है यहाँ बाँह फड़कने से क्या फल होगा और जो हो तौ कुछ अचरज भी नहीं है क्योंकि होनहार के सैकड़ों द्वार होते हैं ।

(नेपथ्य में)—सखियो । यहाँ आओ, यहाँ आओ ।

दुष्यन्त—(कान लगाकर) इस फुलवाड़ी के दक्खिन ओर क्या आलाप सा सुनाई देता है, मैं भी वहीं चलूँ (चारों ओर फिर कर और देख कर) अहा, ये तौ तपस्वियों की कन्या हैं, जो अपने अपने चित्त अनुसार कोई छोटी कोई बड़ी गगरी पौधे सींचने को लिये आती हैं । धन्य है । कैसा मनोहर इनका दर्शन है ।

देहा

(१७) या आश्रम की तियन कौ, जैसा गात अनूप ।

मिलना तैसा कठिन है, रनवासन में रूप ॥

ऐसे ही बन की लता, अपने गुनन प्रताप ।

नित उद्यान लतान कौ, देति लाज सन्ताप ॥

अब इस वृक्ष की छाया में खड़ा हूँगा ।

[खड़ा होकर देखता है]

दो सखियों के साथ शकुन्तला घड़ा लिये आती है ।

शकुन्तला—सखियो । यहाँ आओ, यहाँ आओ ।

अनसूया—हे शकुन्तला । मैं जानती हूँ पिता कन्व को आश्रम के बिरुले तुझसे अधिक प्यारे होंगे, नहीं तौ तुझ नई चमेली सी कामलाङ्गी का इन के सींचने की आज्ञा क्यों दे जाते ।

(१७) जैसे आश्रम की युवतियों का सुन्दर रूप रनवास की स्त्रियों में मिलना कठिन है ऐसे ही बन की लता अपने गुनों से उद्यान (बाग) की लताओं को लज्जित करती हैं ।

शकुन्तला—हे अनसूया निरी पिता की आज्ञा ही नहीं, मेरा भी इन वृत्तों में सहोदर कासा स्नेह हो गया है।

[पेड़ को पानी देती है]

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह कन्व की बेटी शकुन्तला क्योंकर हुई? वह ऋषि बड़ा अविवेकी होगा जिम्मेने ऐसी सुकुमारि को आश्रम-धर्म में लगाया है।

दोहा

(१८) सहज मनोहर रूप यह, तनक बनाटव नाहिं ।
ताहि लगावन चाहत मुनि, कठिन तपोव्रत माहिं ॥
मोहि न दीखत है उचित, उन को यहै बिचार ।
मनहु कमलदलधार सों, काटत छोंकर डार ॥

भला हो सो हो अब तो रुख की ओझल से इसे निशङ्क बात चीत करते देखूँगा।

शकुन्तला—हे सखी अनसूया ! मेरी बत्कल की चोली प्रियम्बदा ने ऐसी कस कर बाँधी है कि सब अङ्ग जकड़ा जाता है, इसे तू ढीली कर दे।

अनसूया—अच्छा करती हूँ।

[चोली ढीली करती है]

(१८) इस कोमल अङ्ग वाली से तपस्या कराना ऐसा है जैसे कमल की पखड़ से छोंकरे की डाली काटना, इसलिये जिस मुनि ने इसे तप में लगाया है वही अविवेकी है। इस युवती का रूप बनावट का सा नहीं है।

प्रियम्बदा—(हँस कर) मुझे दोष क्यों देनी है, अपने जीवन को दे जो तेरे उरोजों को पल पल पै बढ़ाता है ।

दुष्यन्त—(आप ही आप) इसने ठोक कहा ।

चौपाई

(१६) ये सूक्ष्म गाँठिन तैं बाँधे ।
 बलकल बसन धरे दुहु काँधे ॥
 इन में ढके न दीखत हेरे ।
 मण्डल जुगल उरोजन केरे ॥
 उमगति देह मनोहर तोकी ।
 पावति नहिं शोभा निज नोकी ॥
 लुप्यो फूल सुन्दर जिमि कोई ।
 पीरे पातन के बिच होई ॥

अथवा माना कि बलकल वस्त्र इसके शरीर के योग्य नहीं हैं फिर भी यह बात नहीं कि शोभा न देते हों क्योंकि—

दोहा

(२०) सरसिज लगत सुहावना, यदपि लियो ढकि पंक ।
 कारी रेख कलंक हू, लसति कलाधर अंक ॥
 पहरे बलकल बसन यह, लागति नीकी बाल ।
 कहा न भूषन होइ जो, रूप लिख्यो विधि भाल ॥

(१९) कन्धे पर बंधे हुए और जुगल स्तनों को ढाँकते हुए बलकलवस्त्र में इसका उगमता शरीर पूरी शोभा नहीं पाता जैसे पीले पत्तों में ढका हुआ फूल ।

(२०) कमल कीच में भी शोभायमान लगता है और चन्द्रमा में काली रेखा भी सोहती है इसी भाँति इस सुन्दरी के शरीर पर बलकल वस्त्र भी अच्छा लगता है । जिसे बिधता ने रूप दिया उसे सभी सोहता है ।

शकुन्तला—(आगे देख कर) सखियो देखो पधन के फोकोँ से बकुल के पत्ते कैसे हिलते हैं मानों वह मुझे अंगुलियों से अपने निकट बुलाता है, मैं जानी हूँ इसका भाँ मन रख आऊँ ।

[वृक्ष की ओर चकती है]

प्रियम्बदा—सखी शकुन्तला ! तू छिन भय हीं खड़ी रह ।

शकुन्तला—क्यों ।

प्रियम्बदा—इसलिये कि तेरे खड़े रहने से यह बकुल का पौधा ऐसा अच्छा लगता है मानो इससे लता लिपट रही है ।

शकुन्तला—इसी से तो तेरा नाम प्रियम्बदा हुआ है ।

दुष्यन्त—(आप ही आप) प्रियम्बदा ने बात प्यारी कही ; परन्तु सच्ची भी कही क्योंकि—

दोहा

(२१) अधर रुचिर पल्लव नए, भुज कोमल जिमि डार ।

अंगन में यौवन सुभग, लसत कुसुम उनहार ॥

अनसूया—हे सखी शकुन्तला ! देख यह नई चमेली जिसका नाम तैने बनज्योत्सना रक्खा है, इस आम की कैसी स्वयम्बर-बधू बनी है, क्या तू इसे भूल गई है* ।

(२१) इसके लाल होठ हैं सोई मानो लता के नए पत्ते हैं, बाँह हैं सोई कोमल शाखा हैं और अङ्गों में भरा यौवन है सोई मनोहर फूल हैं ।

* स्वयम्बरबधू अर्थात् जिसने अपना पति आप ढूँढ़ लिया हो ।

शकुन्तला—जो इसे भूल गई तो मैं अपने आप को भी भूल जाऊँगी ।

[छूटा के निकट जाती है]

सखी अच्छी ऋतु में ये लता-वृक्ष मिले हैं बनज्योत्सना तो अब नए फूलों से नवयौवना हुई और आम भी नई डालियों से उपभोग के योग्य हैं ।

[खड़ी हुई देखती है]

प्रियम्बदा—(हँस कर) सखी मनसूया तू जानती है शकुन्तला बनज्योत्सना को क्यों ऐसे चाव से निहारती है ?

मनसूया—न सखी मैं नहीं जानती तू बतलादे ।

प्रियम्बदा—इसलिये कि जैसे बनज्योत्सना को अपने समान वृक्ष मिल गया है मुझे भी मेरे समान वर मिले ।

[पानी का घड़ा सुकाती है]

दुष्यन्त—(आप ही आप) कहीं यह ऋषि की बेटी दूसरी जात की स्त्री से तो न हो । अब सन्देह को छोड़ूँ क्योंकि—

दीहा

(२२) भयो जु मेरो शुद्ध मन, अभिलाषी या माहि ।

व्याहन छत्री जोग यह, संशय नैकहु नाहि ॥

होत कछु सन्देह जब, सज्जन के हिय आय ।

अन्तःकरण प्रवृत्ति ही, देति ताहि निबटाय ॥

(२२) मेरा मन इसपै आसक्त हुआ इससे मैंने जान लिया कि यह छत्री के व्याहने योग्य है; क्योंकि सन्देह को सज्जनों के मनकी भावना ही निवार देती है ।

परन्तु फिर भी इसकी उत्पत्ति का ठीक ठीक पता लगाऊँगा ।

शकुन्तला—(घबड़ा कर) दर्ई दर्ई ! पानी की बूँदों से डरा हुआ यह भौरा, नई चमेली को छोड़ बार बार मेरे मुख पै आता है ।

[भौरा की बाधा दिखलाती है]

दुष्यन्त—(चित्त लगाकर देखता है) इसका भौंकना भी अच्छा लगता है ।

दोहा

(२३) उतही तें मोरति दृगन, आवत अलि जिहि ओर ।

सीखति है मुग्धा मनो, भय मिस भृकुटि मरोर ॥

और भी—

[ईर्ष्या सी दिखलाकर]

(२४)—सवैया

दृग चोक्त कोए चलै चहुघाँ अँग बारहि बार लगावत तू ।

लगि कानन गूँजत मन्द कल्लू मनो मर्म की बात सुनावत तू ॥

कर रोकती को अधरामृत लै रति कौ सुखसार उठावत तू ।

हम खोजत जातिहिं पाँति मरे धनिरे धनि भौर कहावत तू ॥

(२३) जिधर भौरा है उधर ही मुँह फेरती है, मानो भय का मिस करके मुग्धापन ही में भौंह चढ़ाना सीखती है ।

(२४) चंचल कोंयों में काँपती हुई आँखों को तू बार बार स्पर्श करता है, कान के पास जाकर ऐसा धीरे धीरे गूँजता है मानो कुछ मरम की बात सुनाता है । जब तक वह तुझे हाथों से रोकती है तू होंठों का रस ले जाता है । अरे भौर तू धन्य है ! हम तौ यही खोजते मरे कि यह किस जाति की बेटी है । (होंठों के रस को कामी लोग रतिसर्वस्व कहते हैं) ।

शकुन्तला—यह ढोठ भौंटा न मानेगा, यहां से कहीं अन्त चल्दूँ ।

[कटाक्ष करके दूसरी ठौर खड़ी होती है]

यहाँ भी पापी ने पीछा न छोड़ा अब क्या करूँ ? सखियों ! इस दुष्ट से मुझे बचाओ ।

दोनों सखी—(मुसका कर) हम बचाने वाली कौन हैं, राजा दुष्यन्त को दुहाई दे, वही बचावेगा । क्योंकि तपोवनों की रक्षा राजा के सिर होती है ।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह अवतर प्रगट होने का अच्छा है । मुझे डर किस का है ।

[इतना कह कर]

परन्तु इससे तो खुल जायगा कि मैं राजा हूँ । अब हो सो हो, इनसे बात चीत करूँगा ।

शकुन्तला—(थोड़ी दूर पर खड़ी होकर) हाय यहाँ आया, अब कहाँ जाऊँ ?

दुष्यन्त—(झट पट आगे बढ़ कर)

दोहा

(२५) जब लग जगपालक बन्यो, जग में नृप पुरुवंस ।
सब बिधि समरथ करन कौं, दुष्ट जनन विध्वंस ॥
तब लग ऐसों कौन जो, छोड़ि सजन की रोति ।
मुग्धा मुनिकन्यान में, करतु कछुक अनीति ॥

(२५) जब तक मैं पुरुवंशी इस पृथ्वी का रखवाला बना हूँ, तब तक कौन ऐसा है, जो मुनि कन्याओं के साथ अन्याय कर सके ।

(राजा को देख कर सब चकित होती हैं)

अनसूया—अजी यहाँ अनीति करने वाला तौ कोई नहीं है,
हमारी यह प्यारी सखी भौरे ने घेरो थो इससे भय
खा गई ।

[शकुन्तला की ओर दीटि करती है

दुष्यन्त—(शकुन्तला के सम्मुख आकर) हे सुन्दरी तेरा तपोव्रत तौ
सफल है ।

[शकुन्तला कजाती सी चुप खड़ी रहती है

अनसूया—तुम सरोके पाहुने आये, अब तपोव्रत क्यों न सफल
होगा । सखी शकुन्तला ! तू जा कुटो से कुछ फल फूल
समेत अर्घ्य ले आ, पाँव धोने को जल तो यहीं है ।

[पेड़ साँचने के घड़े की ओर देखती है

दुष्यन्त—तुम्हारे मोठे बोलों ही से अनिधि सत्कार हो गया ।

प्रियम्बदा—तौ आओ पाहुने ! घड़ोक इस सप्तपर्ण के नीचे घनी
छाया में शीतल चबूतरा पर बैठ कर विश्राम ले ले ।

दुष्यन्त—तुम भी तौ इस काम से थक गई होगी ।

अनसूया—(हाँसे से शकुन्तला से) अनिधि के पास बैठना हम को
उचित है, आओ वहाँ बैठें ।

[सब बैठती है

शकुन्तला—(आप ही आप) इस पुरुष को देख क्यों मेरे मन में
ऐसी बात उपजती है, जो तपोवन के योग्य नहीं ।

दुष्यन्त—(एक एक करके सब को देखता है) हे युवतियों समान
वयस और समान रूप में तुम्हारी आपस की प्रीति बड़ी
अच्छी लगती है ।

प्रियम्बदा—(हौले हौले अनसूया से) सखी अनसूया ! यह अनिधि कौन है ? जिसके रूप में चतुर्पाई के साथ गम्भीरता और बोली में ऐसी मधुरता है, यह तौ कोई बड़ा प्रतापी जान पड़ता है ।

अनसूया—(हौले प्रियम्बदा से) सखी, मैं भी इसी सोच विचार में हूँ । अब इससे कुछ पूछूँगी । (प्रगट) महात्मा तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो ? और किस देश की प्रजा को बिरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो ? क्या कारन है जिससे तुमने अपने कोमल गीत को इस कठिन तपोवन में आकर पोड़ित किया है ?

शकुन्तला—(आप ही आप अरे मन ! तू उतावला मत हो, धीरज धर, तेरे हित की अनसूया ही पूछ रही है ।

दुष्यन्त—(आप ही आप) अब मैं अपने को क्या बतलाऊँ और किस भाँति इसे थोखा देकर आप को छुपाऊँ ? हो सो हो इससे यों कहूँगा । (प्रगट) हे ऋषिकुमारि ! पुरुवंशी राजा ने मुझे राज के धर्मकाज सौंप रखे हैं, इसलिये आश्रम में आया हूँ कि देखूँ यहाँ तपस्वियों के कामों में कुछ विघ्न तौ नहीं होता ।

अनसूया—महात्मा, तुम्हारे पधारने से धर्मचारी सनाथ हुए ।

[शकुन्तला कुछ लज्जित और मोहित सी होती है]

देनों सखी—(शकुन्तला और दुष्यन्त के भावों को जान कर) हे शकुन्तला । कदाचित् आज पिता जी घर होते ।

शकुन्तला—(रिस सी होकर) तौ क्या होता ।

देनों सखी—तौ इस अनाखे पाहुने को प्यारी से प्यारी वस्तु देकर भी कृतार्थ करते ।

शकुन्तला—चलो परे हो, तुम मन से गढ़ कर बात कहती हो । मैं तुम्हारी न सूँगा ।

दुष्यन्त—(अनसूया और प्रियम्बदा से) हे युवतियो । अब मैं भी तुम्हारी सखा का कुछ वृत्तान्त पूछता हूँ ।

देनों सखी—अजी यह भी तुम्हारा अनुग्रह है ।

दुष्यन्त—कन्व महर्षि तो सदा के ब्रह्मचारी हैं, फिर यह तुम्हारी सखी उनकी बेटी कैसे हुई ?

अनसूया—अजी सुनो, कुशिकवंशी एक बड़ा प्रतापी राजर्षि है ।

दुष्यन्त—हाँ मैंने भी सुना है ।

अनसूया—उसो से हमारी सखी की उत्पत्ति जानो और कन्व जाँ इसके पिता इसलिये कहाते हैं कि, पड़ी हुई को उठा लाए थे और उन्होंने पालो पनासी है ।

दुष्यन्त—पड़ी हुई ! यह सुन कर तौ मुझे अचम्भा होता है, अब इसका वृत्तान्त जड़ से सुनना चाहता हूँ ।

अनसूया—अच्छा सुनो, मैं कहती हूँ । जब उस राजर्षि ने गौतमी तीर पर उग्र तप किया, तो कहते हैं कि देवताओं ने कुछ

शङ्का मान तप बिगाड़ने वाली मेनका नाम अप्सरा
उसके पास भेजी ।

दुष्यन्त—सच है, देवता औरों की तपस्या से डर जाते हैं । भला
फिर क्या हुआ ।

अनसूया—बसन्त के आरम्भ में मेनका की उन्मादिनी रुबि
निरखते ही—

[इतना कह लजित होती है]

दुष्यन्त—आगे जो कुछ हुआ हमने जान लिया । तौ यह अप्सरा
की बेटो है ।

अनसूया—हाँ जी ।

दुष्यन्त—ठीक है, नहीं तौ—

देहा

(२६) कैसे ऐसे रूप की, नर ते उतपति होइ ।

भूतल ते निकसति कहूँ, विजुछटा की लोइ ॥

[शकुन्तला सिर मुका कर बैठती है]

(आपही आप) मनोकामना सिद्ध होने के लच्छन तौ दिखाई
दिये हैं, परन्तु सखी ने बर मिलने की बात हँस कर कही थी,
इससे दुवधा में पड़ के मेरा मन अधीर होता है ।

प्रियम्बदा—(मुसकायी हुई पहले शकुन्तला की ओर फिर राजा की ओर
देखकर) कुछ और भी पूछने की मन में दीखती है ।

[शकुन्तला अंगुली से सखी को सिद्धकती है]

(२६) धरती से बिजली कभी नहीं निकलती ऐसे ही यह शकुन्तला भी मनुष्य
जाति से उत्पन्न न हुई होगी ।

दुष्यन्त—तुमने भली मेरे मन की जान ली । मुझे इस अनूठे चरित
के सुजे की अभी और चाह है, इसलिये कुछ पूछूँगा ।

प्रियम्बदा—सोच विचार मत करो, तपस्वियों से तो जो कोई चाहे
निधड़क पूछ सकता है ।

दुष्यन्त—मैं यह पूछता हूँ कि—

(२७)—सवैया

रतिराज के काजबिगारन को रिपु है बन को व्रत लोक कहे ।
वह सुन्दरि प्यारी तिहारी सखी रहिहै कहे कौलग ताहि सहे ॥
तजि देहिगी व्याह भय पै किधौं जब पीतम आइके बाँह गहे ।
अपने से किधौं दूगवागी मृगीन में जन्म बितावति योही रहे ॥

प्रियम्बदा—अजी ब्याह की क्या चलाई, हमारी सखी तो धर्म
कर्म में भी पराए वश है, तिस पर भी पिता का संकल्प
है कि समान वर मिले तो इसे ब्याहें ।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह संकल्प पूरा होना तो कुछ कठिन
नहीं है ।

(२७) कामदेव के व्यवहारों का बिगाड़ने वाला बैराग है, सो तुम बतलाओ कि
शकुन्तला इस बैराग को ब्याह तक ही सहेगी अथवा जन्म भर अपनी
सी आँखों वाली हरनियों में बिना ब्याही रहेगी ?

सोरठा

(२८) रे मन तजि अब सोग, दूर भयो सन्देह सब ।

कढ़यो धरन तन योग, रत्न जो मैं जान्यो अनल ॥

शकुन्तला—(रिस सी होकर) ले मनसूया मैं तौ जाती हूँ ।

मनसूया—क्यों जाती है ?

शकुन्तला—मैं गौतमी से जाकर कहूँगी कि प्रियम्बदा मुझ से
अन कहनी बात कहती है ।

मनसूया—हे सखी ! यह तौ उचित नहीं है कि तू ऐसे अनोखे
पाहुने को बिना सत्कार किये छोड़ जाय ।

[शकुन्तला बिना उत्तर दिये चलने को होती है]

दुष्यन्त—(रोकने को उठता है परन्तु आप ही आप रुक जाता है)
अहा, कामो मनुष्यों के मन को बात बाहर के चिन्हों से
प्रगट हो जाती है ।

दोहा

(२९) मैं पाछे मुनिश्रीय के, चह्यो चलन करि चाव ।

मर्यादा आड़ी भई, आगे दियो न पाव ॥

आसन तें न उठ्यो तऊ, ऐसी मोहिं लखात ।

मानो बैठ्यो आय फिर, चलि के हाथ छः सात ॥

(२८) हे हृदय ! अब प्रसन्न हो, क्योंकि जिसको तू आग (अर्थात् ब्राह्मण की
बेटी) समझा था सौ तौ गले में पहनने योग्य रत्न निकला (अर्थात्
शकुन्तला तौ क्षत्री की लड़की निकली) ।

(२९) मुनिसुता के पीछे मैंने चलना चाहा परन्तु मर्यादा ने रोक लिया, यद्यपि
स्थान से उठा नहीं था, तौ भी ऐसा जानता हूँ मानो कुछ चल कर लौट
आया ।

प्रियम्बदा—(शकुन्तला को रोक कर) सखी यहाँ से जाने न पावेगी ।

शकुन्तला—(भौंह चढ़ा कर) क्यों ?

प्रियम्बदा—क्योंकि अभी तुझे दो पाँधे सींचने को और रहे हैं, इस ऋण को चुका दे तब चली जाना ।

[चलती हुई बल कर रोकती है]

दुष्यन्त—वृत्त सींचने ही से तुम्हारी सखी थकी सी दीखती है, क्योंकि—

(३०)—सवैया

भुकि कन्ध रहे लिये गागरिया भई लाल हथेरी दुहु कर की ।
उचकें कुच जानि परे अजहू बढ़ि श्वास गई छतिया धरकी ॥
मुख छाये पसीनन बूँद रहीं न हिले न भुले फुलवातर की ।
कर एक लिये बिथुरो अलकें खुलि जूरे की गाँठ तरे सरकी ॥
इसलिये लो यह ऋण मुझे चुकाने दो ।

[अँगूठी देना चाहता है]

(दुष्यन्त का नाम अँगूठा पर बाँच कर दाँतों एक दूसरी की ओर

निहारती हैं)

(३०) सींचने की घड़ियाँ उठने उठने हथेली लाल हो गई हैं, स्तनों के उठने से जान पड़ता है कि परिश्रम से श्वास बढ़ गई है, तरकी अर्थात् करनफूल हिलता नहीं है ; क्योंकि पानी से उठकी पँखड़ी कपोलों पर चिपक गई हैं, जूड़े की गाँठ खुल गई है, इससे बालों को एक हाथ में थाम रही है ।

दुष्यन्त—इसके लेने में तुम यह संकोच मत करो कि यह राजा की वस्तु है, क्योंकि मैं भी तो राजपुरुष हूँ । मुझे यह राजा ही से मिली है ।

प्रियम्बदा—तो महात्मा इसे अपनी अँगुली से ग्यारी मत करो । तुम्हारे कहने ही से ऋण चुक गया । (मुसका कर) सखी शकुन्तला ! इस महात्मा ने अथवा महाराज ने दया करके तुझे ऋण से छुड़ा दिया, अब तू चली जा ।

शकुन्तला—(आप ही आप) जो अपने वश में रही तौ । (प्रणट) जाने की आज्ञा देने वाली अथवा रोकने वाली तू कौन है ?

दुष्यन्त—(शकुन्तला की ओर देख कर आप ही आप) जैसा मेरा मन इससे उलझा है, क्या इस का भी ऐसा ही मुझ में लगा है, होकि न हो मनोरथ सिद्ध होने के लच्छन तो दीखते हैं, क्योंकि—

दीहा

(३१) यद्यपि मिलावति नाहि यह, मो बातन में बात ।
कान धरति इतही तऊ, जब मैं कछु बतरात ॥
होति न ठाढ़ी आयकै, मेरे सन्मुख बाल ।
तदपि न दूजी ओर कहूँ, फेरति दीठि रसाल ॥

(३१) यद्यपि शकुन्तला मेरी बात में बात नहीं मिलाती तौ भी जब मैं कुछ कहता हूँ मेरी ही ओर कान लगाती है, यद्यपि यह मेरे सामने मुख नहीं करती तौ भी बहुधा अपनी ओर नहीं देखती ।

(नेपथ्य में)—हे तपस्विन्यो । आओ, आश्रम के जीवों की रक्षा करो । बिहारी राजा दुष्यन्त निकट आ पहुँचा, देखो—

दोहा

(३२) आले बल्कल वसन ये, तपमिन डारे लाय ।
आश्रम के जिन तरुन पै, डारन तैं लटकाय ॥
तिनके ऊपर परनि है, उड़ि उड़ि रज खुरतार ।
मानो टीड़ीदल गिरत, साँझ अरुण की बार ॥

और देखो—

(३३)—सवैया

रथ देखि मतंग डरयो बन कौ यह मौहि तपोवन आवत है ।
पग लंगर बेलि बनाय मतो हरिनान के भुँड भगावत है ॥
तपकों बनि मूरति विघ्न किधों बलसों तरु तोरत धावत है ।
मुख मोरि निहारत पार्छे जबै रद कन्ध से एक लगावत है ॥

[ऋषिकुमारी कान लगा कर सुनती हैं और चौकती हैं]

(३२) घोड़ों की खुरतार से (गेरुये रंग की) धूल उड़ उड़ कर वृक्षों पर सूखते हुए आले वृक्षों में गैसी गिरती है मानो सन्ध्या की अरुणता में चमकता हुआ टीड़ीदल ।

(३३) यह बन का हाथी, राजा के रथ से डरा हुआ, हरिनों को व्याकुल करता तपोवन में हमारी तपस्या के लिये विघ्न की मूर्ति बन कर वृक्षों को तोड़ता और पैरों में लता का लंगर डाले झूमता आता है । जब पीछे की ओर देखता है तो एक दांत कन्धे से लगा लेता है ।

दुष्यन्त—(आप ही आप) अरे पुरवासियो अधिकार है तुमको कि तुमने मुझे ढूँढ़ते ढूँढ़ते यहाँ आकर तपोवन में बिग्न डाला । अब मुझे इन के पास जाना पड़ा ।

दोनों सखी—अजी अब तो हम इस कुलाहल से घबड़ाती हैं, आज्ञा दो तो अपनी कुटी को जायें ।

दुष्यन्त—(बेग बेग) तुम जाओ । मैं भी ऐसा उपाय करूँगा जिस से तपोवन में बिग्न न होने पावे ।

[सब उठती हैं]

दोनों सखी—हे महात्मा । जैसा अतिथि सत्कार होना चाहिये, हम से नहीं बना, इसलिये हम यह कहते लजाती हैं कि कभी फिर भी दर्शन देना ।

दुष्यन्त—नहीं नहीं, यह बात नहीं है, तुम्हारे देखने ही से हमारा सत्कार हो गया ।

शकुन्तला—हे अनसूया एक तो मेरे पाँव में नई दाभ को अनी लगी है, दूसरे कुरे को डाल में अंचल उलभा है, नैक ठैरो तो मैं इन से निबट लूँ ।

(दुष्यन्त ही की ओर देखती हुई और मिस करके छिटकती हुई सखियों समेत जाती है)

दुष्यन्त—अब मुझे नगर की ओर, जाने की तो चाह रही नहीं । इसालिये साथ वालों का डेरा तपोवन के निकट ही कराऊँगा । शकुन्तला के प्रेम व्यवहार से मैं अपना छुटकारा नहीं देखता ।

दोहा

(३४) तन तो आगे चलत है, मन नहिं संग लगात ।
उड़त पताकापाट ज्यों, मारुत सोही जात ॥

[सब जाते हैं

———— :०: ————

पहला अङ्क समाप्त हुआ



(३४) शरीर तो मेरा आगे को चलता है परन्तु मन पीछे ही रह जाता है, जैसे पवन के सम्मुख चलने में झंडी की ध्वजा पीछे ही को फौराती है ।

अंक (२)

स्थान बन के समीप राजा का डेरा

(उदास रूप में मादव्य आता है)

मादव्य—(ऊँची श्वास लेकर) इस मृगयाशील राजा की मित्रता से हाथ, हम तो बड़े दुखी हैं, दुपहरी में भी—यह मृग आया, वह बाराह गया, उधर शार्दूल जाता है—यही कहते इस बन से उसमें, उससे इस में भागना पड़ता है। ग्रीष्म में कहीं वृक्ष की छाया भी इतनी नहीं मिलती जहाँ कुछ विश्राम लिया जाय। पहाड़ की नदियों में वृक्षों के पत्ते गिर कर सड़ गए हैं। प्यास लगे तो उन्हीं का बेस्वाद पानी पीना पड़ता है और खाने को बहुधा शूल पर भुना हुआ मांस मिलता है, सो भी कुसमय। घोड़े के साथ दौड़ते दौड़ते देह ऐसी शिथिल हो जाती है कि रात में भी सोना नहीं मिलता और जो कुछ नींद आई भी तो बड़े तड़के ही दास जाय—चिड़ीमार चलो, बन को चलो, बन को। यह चिन्ता कर मुझे जगा देते हैं, ये दुःख तो थे ही, तब तक घाव में नया घाव और लगा कि कल हम से बिछुड़ कर राजा मृग के पीछे चलता चलता तपस्वियों के आश्रम में पहुँचा। वहाँ मेरे अभाग्य से

उस की दृष्टि एक तपस्वी की कन्या पर जिसका नाम शकुन्तला है पड़ गई। अब नगर का लौटना कैसा ? उसी के बीच में आज रात भर स्वामी की आँख नहीं लगी, अब क्या किया जाय, जब तक राजा को नित्यकर्म करता हुआ देख न लूँगा न जानूँ क्या गति मेरी होगी। (घूमता और देखता है) खला तौ वह आता है। और बरन के फूलों की माला पहने हुए धनुषधारिण यवनी भी साथ हैं। आता तौ इधर ही है अब मैं भी अंग अंग करके खड़ा हो जाऊँ (लाठी टेक कर खड़ा होता है) खलो यों ही विश्राम सही।

(ऊपर कही हुईं स्त्रियों सहित दुष्यन्त आता है)

दुष्यन्त—

दोहा

३५) प्रिया मिलन दुर्लभ तऊ, लखि लखि बाके भाव ।
मेरे हिय उपजत खरो, मिलवेही कौ चाह ॥
पूरो यदपि भयो नहीं, मन चीत्यो रतिनाह ।
पै संगम सुख लैन को, रही दुहुन चित चाह ॥

[मुसका कर

जब किसी की किसी से लगी हो और वह अपने मन की चाह से उसके मन की चाह अनुमान करे तौ ऐसा ही धोखा खाता है।

३५) प्यारी का मिलना तौ कठिन है परन्तु उसके भाव देख कर मुझे विश्वास होता है कि मिलेगी। क्योंकि यद्यपि कामदेव का कारज सिद्ध नहीं हुआ परन्तु हम दोनों के मन में मिलने की चाह रही है।

(३६) यदपि निहारि और ही ओरी ।
 प्रेम दीठि प्यारो ने मोरी ॥
 मन्द चलो यदि भार नितम्बा ।
 मनहु ललित गति करति बिलम्बा ॥
 मारग रोकि सखी जब लीनो ।
 भिरकि ताहि रिस सों यदि दीनो ॥
 मेरेहि काज कियो सब बाने ।
 अहा कामि स्वारथ पहचाने ॥

माढव्य—(जैसे खड़ा था वैसे ही खड़ा है) हे मित्र ! मेरे हाथ नहीं उठते,
 इसलिये बचनों ही से आशीर्वाद देना हूँ तुम्हारी जय रहे ।

दुष्यन्त—कहो सखा ! तुम्हारा अंग भंग क्यों हुआ ।

माढव्य—अपनी अँगुली से आँख कुचा कर आप ही पूछते हो कि
 आँसू क्यों आये ?

दुष्यन्त—हम नहीं समझे, अब फिर समझा कर कहो ।

माढव्य—देखो वह बेत कुब्जों की होड़ करता है सो कहो अपने
 बल से करता है अथवा नदी प्रवाह से ?

दुष्यन्त—नदी के प्रवाह से भुका है ।

माढव्य—ऐसे ही मेरे अंग भंग के भी तुम्ही कारण हो ।

दुष्यन्त—क्योंकर ?

(३६) उसने चाहे और ही ओर देखा हो परन्तु मैंने यही जाना कि मुझी पर स्नेह
 की दृष्टि की है, वह चाहे नितम्बों के बोझ ही से मन्दगति चली हो परन्तु
 मैंने यही समझा कि मुझे दिखाने को अठखेली करती है, फिर जब उसे
 सखी ने चलने से रोका तब वह चाहे रिस ही हुई हो परन्तु मेरे मन में
 यही भासी कि यह भी कुछ कटाक्ष मुझी पर है । सत्य है, अपना प्रयोजन
 देखने में प्रेमीजनों की दृष्टि बड़ी पैनी होती है ।

मादव्य—तुम तो सब राजकाज छोड़ इस भयंकर निरजन वन में बनकर अहेरियों के काम करोगे, परन्तु मैं सत्य ही कहता हूँ कि जंगली पशुओं के पोछे दिन प्रतिदिन भागते भागते मेरे अङ्गों के जोड़ हिल गये हैं। इसलिये दया कर के मुझे एक दिन तो विश्राम लेने का छोड़ जाओ।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह तो यों कहता हूँ। इधर मेरा चित्त भी ऋषिकुमारी की सुध में आखेट से निरुत्साह हो गया है, क्योंकि—

सोरठा

(३९) शर चढ़ाय यह चाप, तानि सकतु नहि मृगन पै ।
जिन सिखई प्रिय आप, भोरी चित्तवनि संग बास ॥

मादव्य—(राजा के मुख की ओर देख) तुम्हारे मन में जाने क्या है ? मेरी बात तो ऐसी हो गई जैसे वन में रोना।

दुष्यन्त—(मुखका कर) मेरे मन में यही है कि, अपने सखा की बात मानूँ।

मादव्य तुम्हारी बड़ा आर्बल हो।

[उठ कर चलना चाहता है]

दुष्यन्त—मित्र ! ठैर, अभी हमका कुछ और कहना है, सो सुन ले।

मादव्य—कहिये।

[४०] जिना शरिर्जो ने शकुन्तला को भोली चितवन सिखाई है, वन पै धनुष बढ़ा कर वान क्यों कर छोड़ सकूँगा :

दुष्यन्त—जब तू विश्राम ले चुके, तब हम एक ऐसे काम में तुझ से सहायता लेंगे जिस में कुछ दौड़ना भागना न पड़ेगा ।

मादव्य—क्या लड्डू खिलाओगे ?

दुष्यन्त—अभी कहता हूँ ।

मादव्य—कहिये, अब अच्छा अवसर है ।

दुष्यन्त—कोई यहाँ है ?

[द्वारपाल आता है]

द्वारपाल—स्वामी क्या आज्ञा है ?

दुष्यन्त—रैवतक तुम सेनापति को बुलाओ ।

द्वारपाल—बहुत अच्छा (बाहर जाकर सेनापति सहित आता है) आओ महाराज कुछ आज्ञा देने के लिये तुम्हारी बाट देखते हैं ।

सेनापति—(दुष्यन्त की ओर देख कर) मृगया को दोष तो देते हैं, परन्तु हमारे स्वामी को तो गुणदायक ही हुई है ।

चौपाई

(३८) नरपति देह अधिक बलवाना ।

दीर्घ गिरि चरनाग समाना ॥

भए कूर अगले अंग जाके ।

खेंचेत बार बार धनवा के ॥

(३८) बार बार धनुष खेंचने से महाराज का अगला शरीर ऐसा कड़ा हो गया है जैसे पहाड़ के हाथी का, अब धूप नहीं व्यापती, न थोड़े परिश्रम से थकावट का क्लेश होता है, न पसीना आता है, दौड़ धूप से कुछ दुबलाई तो आ गई है; परन्तु बड़े शरीर में दिखाई नहीं देती ।

व्यापत श्रम न पसीना लावे ।
धूप लगत कलु खेद न पावे ॥
भई यदपि नैसुक दुबराई ।
बड़े डोल नहिं देति दिखाई ॥

(राजा के निकट जाकर)—हरामी का जय हो । महाराज बन में
आखेटी पशुओं के खोज देखे गये हैं, आप कैसे बैठे हैं ।

दुष्यन्त—इस माढव्य ने निन्दा करके मृगया में मेरा उरसाह मन्दा
कर दिया है ।

सेनापति—(होले माढव्य से) सखा तू अपनी बात पर बना रह, मैं
ठकुरसुहाती कहूँगा (प्रणट) महाराज इस राँड के
को बकने दीजिये, अन्ना इस के तौ आप ही प्रमाण है
मृगया में कितने गुण होते हैं ।

(३६)—सवैया

कतु मेद कटे अरु तुम्हि घटे छटि के तन धावन जोग बने ।
चिनवृत्ति पशून को जानि परे भय क्रोध में लेति लपेट घने ॥
अति कीरति है धनुधारिन की चन्दा यदि बान तैं बेशो हने ।
मृगयातें भली न बिनोद कोई ताहि दावन माहिं वृथाहो गने ॥

(३९) मृगया में ये गुण हैं कि मेदा (चरबी) घटा कर और तोंद उठि कर शरीर
को बरुने फिरने के योग्य बनाती है । पशुओं के चित की वृत्ति की अर्थात्
कभी भय कभी क्रोध इत्यादि का ज्ञान कराती है और चलता वेशा मारन
सिखाती है, यह तौ मन बढ़लाने को सब से अच्छी बात है, फिर न जानने
लोग इसे दोष क्यों लगाते हैं ।

मादव्य—(रिस से) ऋरे राजा ने तो मृगया छोड़ दी, तुझे क्या हुआ है जो ऐसी बातें कह कर फिर उत्साह दिलाता है, तू वन में बहुत दौड़ता फिरता है, कहीं मनुष्य की नाक के लोभी किसी बूढ़े रीछ के मुँह में न पड़ जाय ।

दुष्यन्त—हे सेनापति ! यह आश्रम का समीप है, इसलिये हम आखेट की बधाई करने में तुम्हारा पक्ष नहीं ले सकते । आज तो—

चौपाई

(४०) भैंसन देहु करन रंगरेली ।
 सींग पक्षारिकुण्ड बिच केली ॥
 हगिनयूथ रूखन तर आवैं ।
 बैठ जुगार करन सुख पावैं ॥
 शूकर वृंद डहर मे जाईं ।
 खोद निडर मोथाजर खाईं ॥
 शिथिल प्रत्यञ्चा धनुष हमारी ।
 आज त्याग श्रम होइ सुखारी ॥

सेनापति—जो इच्छा महाराज की ।

दुष्यन्त—आगे जो आखेटों लोग बढ़ गये हैं, उन्हें लौटा ले और सेना बालों को बरज दो कि तपेवन में कुछ बिधन न डालें, क्योंकि—

(४०) भैंसों को आनन्द से पाखरों में तैरने दो हरियों को घसी लाया में बैठ कर रोंच करने दो, सूअरों को अधपूखे तालों में मोथे की जड़ खोद कर खाने दो और मेरे धनुष की प्रत्यञ्चा ढीली हो गई है; आज इसे भी विश्राम लेने दो ।

दीहा

(४१) शान्ति भाव लभान में, यद्यपि होत प्रधान ।
गुप्तनेत्र राखन लऊ, अन्ध अग्नि समान ॥
ज्यो शोचन रमि कान्तमणि, छूति करनि न दाह ।
मानु तेज ते आन कहि, उगयनि ज्वाल प्रवाह ॥

सेनापति—जो आज्ञा स्वामी की ।

मादव्य—चन, जो दाम्नीजान लेग अन्नाह दिजाना निष्कन हुआ ।

[सेनापति जाता है]

दुष्यन्त—(दामिनी की आँखें देखकर) तुम भी प्रपन्न आखिरी मेघ
ऊपर डालो और हेरैयन कतू अपने काम पर सावधान
रह ।

सब शिष्य—जो आज्ञा महाराज की ।

[सब जाते हैं]

मादव्य—इन मस्त्रियों को भी आपने भला यहाँ से दूर किया ।
अब सुन्दर वृत्तों की छाया में इस शिना पर बैठिये, मैं
भी मुख से विश्राम लूँगा ।

दुष्यन्त—आगे तुदी चल ।

मादव्य—आइये ।

[दोनों जाकर बैठते हैं]

(४१) तस्त्रियों का स्वभाव ऐसा होता है जैसा सूर्य कान्तमणि का कि, छुने में
ठंडी होती है परन्तु सूर्य के नेत्र से निकलता साहर अग्नि उगलती है ।
यही भा में शान्ति का दुष्य है: परन्तु अन्तर में नेत्र भी ऐसा रखते हैं
जैसे भस्म करनेवाली अग्नि ।

दुष्यन्त—अरे मादव्य ! तुझे झाँझों का क्या फल मिला जब कि तैने देखने योग्य पदार्थों में सब से उत्तम को तो देखा ही नहीं ।

मादव्य—क्या मेरे सामने महाराज निस्त नहीं रहते ?

दुष्यन्त—अरे अपने को तो सभी अच्छा जानते हैं; परन्तु मैं तुक से उस शकुन्तला के मद्दे कहता हूँ जो आश्रम की शोभा है ।

मादव्य—(आप ही आप) मैं इसको इस विषय में कुछ कहने का अवसर न दूँगा (प्रगट) हे मित्र ! जो वह तपस्वी की बेटी है तो तुम्हारे व्याहने योग्य नहीं, फिर उसके देखने से क्या प्रयोजन ?

दुष्यन्त—हे सखा ! पुरुवंशियों का मन अलीन वस्तु पर कभी नहीं जाता ।

कुण्डलिया

(४२) मुनि दुहिता है नाम कों, जनी अप्सरा माय ।
जनतहि जननी छोड़िके, गई बिना पय प्याय ॥
गई बिना पय प्याय भूमि पै डारि अकेली ।
परी डार तें छूटि आक पै मनहु चमेली ॥

(४२) मुनि की बेटी तो शकुन्तला नाम ही को है, उसकी माता एक अप्सरा थी जो जन्ते ही उसे बन में डाल चली गई । दैवयोग से वहाँ कन्व मुनि आ निकले, पढ़ी देख उनके मन में दया आई, गोद में उठाकर आश्रम में ले गए और बेटी की भौंति पाछी ।

मुनि निकसे तहँ आय गोद लै लीनी सुहिता ।
पाली पिता कहाय नाम याते मुनिदुहिता ॥

माढव्य—(हंस कर) जैसे किसी की रुचि लुहारों से हठ कर
अमली पर लगे, तुम रनवास के स्त्रीरत्नों को छोड़ उस
पर आसक्त हुए हो ।

दुष्यन्त—हे सखा ! जो तू उसे एक बेर देखले तौ फिर ऐसी न
कहे ।

माढव्य—जब तुम को भी उसके देखने से अचम्भा हुआ है; तौ
वह निस्सन्देह रूपवती होगी ।

दुष्यन्त—(मुस का कर) बहुत, क्या कहूँ ।

(४३)—सवैया

पहले लिखि चित्र के माहि किधों वाहि प्राण अधार बिरंचदयो ।
धरि के सुखमा चित के सबही एक रूप अनूप बनाय लयो ॥
जब सोचत हूँ बिधि कौ बल में अरु बा तिय कौ रंग ढंग ठयो ।
तब भासति है मन माहि यही कमला कौ नयौ अवतार भयो ॥

माढव्य—जो ऐसी है तौ उसके आगे सब रूपवती निरादर हैं ।

दुष्यन्त—मेरे चित्त में तौ ऐसी ही है ।

(४३) ब्रह्मा ने पहले चित्र में लिख कर अथवा सब रूपवतियों को ध्यान में
लाकर एक मूर्त बनाई होगी और फिर उस चित्र अथवा मूर्त में जीव
हाला होगा, इस भाँति शकुन्तला बनी होगी । मेरे जान तौ वह दूसरी
लक्ष्मी है ।

(४३)—सवैया

वह तौ निर्दोषित रूप लिया बिन सूँझ्या मनां कोई फूल नयो ।
नवपल्लव कै नवहू न लख्यो कोई रत्न किधों जो बिध्यो न गयो ॥
फन पुन्नन का है भखंड किधों मधु है सद कै बिन स्वाद लयो ।
बिधना मन मोहि न जानि परे नाहि चाहत कौन के भागि दयो ॥

मादय—तौ तुम उसे बेग व्याह लो नहो तौ भखंड पुन्नन का फल
किसी दिंगोटा का तैल लगे हुए बिकने सिर वाले जोगी
के हाथ पड़ जायगा ।

दुष्यन्त—मित्र ! वह परवश है और उसका पिता घर नहीं है ।

मादय—भना तुम में उसका प्रचुराग कैसा जान पडा ?

दुष्यन्त—सुन, तपस्वियों की कन्या स्वभाव की नकुचीली होती है,
तौ भी—

दोहा

(४४) मेरे सनमुख होत ही, फेरी दीठि सुजान ।
फिर काहू मिल तेँ करो, मधु मधु मुलकान ॥

(४४) उसका रूप ऐसा निर्दोषित है जैसे बिना सूँधा फूल, जैसे बिना टूटी नई
कौपल, जैसे बिना बिधा रत्न, जैसे बिना चक्का नया मधु, जैसे पत्थरों की
भखंड कला; परन्तु मैं नहीं जानता कि बिधाता उसे किसके हाथ लगावेगा ।

(४५) कामदेव के प्रेम व्यवहार को लाज की मारी भी छुपा न सकी ; क्योंकि
मेरी ओर से यद्यपि दीठ फेर ली परन्तु किसी मिल से मुसका भी गई ।

प्रगट प्रीति नहिं कर सही, प्रविरु सगई लाज ।
तौह गुप्त रह्या नहीं, मदनदेव की काज ॥

माढव्य—और का देखने ही तुम्हारी गोद में आ बैठती ।

दुष्यन्त—फिर जब चपले लगी तौ लाज में सा उन सुन्दरी का
प्रीति भाव मूक में दिखाई दिया ।

दोहा

(४६) चलि अबला कछु दूर लो, ठैरि गई मग माँहिं
कहि दाभ काँटो लग्यो, यदपि दाभ नहं नाहिं ॥
उरभ्यो काहू रूप में, फहूँ न बलकल चीर ।
सुरभावन के मिस नऊ, ठिठकी मोर शरीर ॥

माढव्य—तौ अब यहाँ खाने पीने की सामग्री इकट्ठी कर लो, क्योंकि
मैं देखता हूँ तुमने नपोवन को उपवन बना लिया ।

दुष्यन्त—हे भला ! किसी किसी तपस्वी ने तुझे पहचान लिया है,
अब बिचार तौ, किस मिस ने फिर आश्रम में जाऊँ ?

माढव्य—और का मिस चाहिये, तुम तौ राजा हो ।

दुष्यन्त—राजा हैं तौ का ?

(४६) यद्यपि वहाँ दाभ का नाम भी न था तौ भी थोड़ी दूर चल कर खड़ी हो
गई और कहने लगी कि हाय, मेरे पैर में दाभ का काँटा लगा और यद्यपि
किसी पेड़ में फनड़ा नहीं उलझा था ; तौ भी बलकल चीर सुलझाने के मिस
मेरी ओर मुल करके ठिठक गई ।

मादव्य—तपस्वियों से कहो कि बन के अन्न से हमारा कटा भाग लाओ।

दुष्यन्त—हे मूर्ख ! ये तपस्वी तौ हमको और ही भाग ऐसा देते हैं, जिसके आगे रत्नों का ढेर भी तुच्छ है, देख —

दोहा

(४७) और वण ते' लेत नृप, सो धन बिनशन जोग ।

कटी अंश तप कौ अमर, देत जु तपसी लोग ॥

(नेपथ्य में)—अहा हमारा तौ मनोर्थ सिद्ध हो गया ।

दुष्यन्त—(कान लगा कर) यह तौ धीर शान्त बोल तपस्वियों का सा है ।

[द्वारपाल आता है]

द्वारपाल—स्वामी की जय हो, हे देव ! दो ऋषिकुमार द्वार पर आए हैं ।

दुष्यन्त—तुरन्त लाओ ।

द्वारपाल—अभी लाता हूँ (बाहर जाता है और ऋषिकुमारों को साथ लिये फिर आता है) इधर आओ, इधर आओ ।

[दोनों राजा की ओर देखते हैं]

पहला ऋषिकुमार—अहा, इस राजा का शरीर यद्यपि जाजुल्यमान है। परन्तु हम को फिर भी इसमें अत्यन्त विश्वास होता है, क्यों न हो यह भी तौ ऋषियों ही की भाँति रहता है ।

(४७) जो कर राजा और बरणों से लेता है वह सब मिट जाता है, परन्तु जो आशीर्वाद तपस्वियों से मिलता है, वह अजर अमर है ।

चौपाई

(४८) त्यागि नगर याहु ने दीनो ।

आश्रम आय बास अब लीनो ॥

करि पालन परजा अपनी की ।

संचय करत यह तपही की ॥

ऋषि पदवी पावन अति नीकी ।

पहुँची सुरपुर याहु जनी की ॥

चारन वृन्द ताहि तहँ गावें ।

आगे राज शब्द एक लावें ॥

दूसरा— हे गौतम ! क्या यही इन्द्र का सखा दुष्यन्त है ?

पहला—हाँ यही है ।

दूसरा—इसी से ।

चौपाई

(४९) सीमा श्याम वारि निधि जाकी ।

ताभुमि कों भोगत एकाकी ॥

तौ अचरज यामैं कछु नाहीं ।

नगर द्वार अरगल सम बाहीं ॥

जाके एक चढ़े धनवा में ।

दूजे कठिन वज्र मघवा में ॥

(४८) यह राजा भी क्षत्रियों से घाट नहीं क्योंकि इसने नगर छोड़ आश्रम में बास लिया है और अपनी प्रजा का पालन करता है, यही इसके लिये तप है, इस को स्वर्ग के चारन लोग अपनी अपनी स्त्रियों सहित ऋषि कह कर गाते हैं, केवल राज शब्द आगे रख लेते हैं जिससे राजर्षि नाम हो जाता है ।

(४९) तौ फिर क्या आश्चर्य है कि यह अकेला नगर द्वार की अर्गल समान अपनी लम्बी बाहों से समुद्र पर्यन्त सब पृथिवी पर राज करता है । स्वर्ग में देवता इन्द्र के बज्र और इसी के धनुष से लड़ाई में अपने वैरी दैत्यों पर विजय पाने की आशा रखते हैं ।

घरन आस सब देव समाजा ।

असुरन कौ रन जीतन काजा ॥

देनों—(राजा के निश्चिन्त जाकर) महाराज की जय हो ।

दुष्यन्त—(आसन से उठ कर) तुम दोनों को प्रणाम है !

देनों—(फूल भेंट करते हैं) तुम्हारा कल्याण हा !

दुष्यन्त—(प्रणाम करके भेंट लेता है) क्या आज्ञा है ?

देनों—महाराज आश्रमवानियों ने यह ज्ञान कर कि, तुम यहीं ठेरे
तो बहुत प्रार्थना की है ।

दुष्यन्त—क्या कृपा की है ।

देनों—हमारे गुरु कन्व ऋषि यहाँ नहीं हैं, इससे राजस आकर
यज्ञ में विघ्न डालते हैं, सो तुम साथी समेत कुछ रात
इस आश्रम का सनाथ करो ।

दुष्यन्त—यह तो मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया ।

मादव्य—(सेन देकर) अब तो मनोकामना पूरी हुई ।

दुष्यन्त—(मुसका कर) रैवतक ! तू साथी का आज्ञा दे कि, रथ
लावे और मेरा धनुषवान भा लेता आवे ।

द्वारपाल—जो आज्ञा ।

[बाहर जाता है]

देनों—(हथ से)

देखा

(५०) चलत लोक पुरखान की, करत निर्वाह के काज ।

अवित तुम्हें यातं यही, धर्मध्वज महाराज ॥

सरनागत दुखियान कौ, दैन अभय कौ दान ।

नित कङ्कन बाँधे रहत, पुरुवंशी यजमान ॥

(५०) हे महाराज ! तुम अपने पुरखों की रीति पर चलते हो और उन्हीं के से काम
करते हो। इससे तुमको आश्रम की रक्षा करना ही योग्य है, यह बात प्रसिद्ध है
कि, शरनागतों का दुःख दूर करने को पुरुवंश के लोग सदा कटिबद्ध रहते हैं ।

दुष्यन्त—(प्रणाम करके) तुम चलो मैं भी तुम्हारे पीछे आया ।
दोनों—सदा जय रहे !

[दोनों जाते हैं]

दुष्यन्त—मादव्य, क्या तेरे मन में भी शकुन्तला देखने की चाह है ?

मादव्य—पहले तो वही उमंग थी ; परन्तु जब से राज्ञों का नाम सुना तब से नहीं रही ।

दुष्यन्त—डरता क्यों है ? हमारे पास रहना ।

मादव्य—तौ तुम्हारा चकरात बनूँगा ।

(द्वारपाल आता है)

द्वारपाल—महागज, रथ आ गया और माजी की कुछ आज्ञा लेकर,
करभक दूत भी नगर से आया है ।

दुष्यन्त—(सत्कार करके) क्या माता का पठाया आया है ?

द्वारपाल—हाँ प्रभू ।

दुष्यन्त—तौ उसे लाओ ।

द्वारपाल—जो आज्ञा (बाहर जाता है और फिर करभक समेत आता है)
महाराज इधर हैं सन्मुख जा ।

करभक—स्वामी को जय हो देव, माजी ने आज्ञा की है कि आज से
चौथे दिन पुत्र पिण्डपालन उपास होगा, उस समय तुम
चिरञ्जीवी भी अवश्य आकर हमको प्रसन्न करना ।

दुष्यन्त—इधर तौ तपस्वियों का काम उधर बड़ों की आज्ञा, इन में
से कोई उल्लंघन योग्य नहीं है, सब क्या करना चाहिये ।

माढव्य—(हंस कर) अब त्रिशंकु बन कर यहीं ठैरो* ।

दुष्यन्त—इस समय मैं सचमुच व्याकुल हूँ ।

दोहा

(५१) दूर दूर पै काज द्वै, परे एक संग भाय ।

ऊकन जोग न एक हू, इन में परत लखाय ॥

याह्रा ते मेरो हियो, सोचत भयो अधीर ।

मनहु शिला ते रुकि बह्यो, द्वैधा सरिता नीर ॥

(सोच कर)—हे सखा तुझ से भी तौ माजी पुत्र कह कर बोलती हैं,

इससे तुही नगर को जा और हमारी ओर से माजी से

यह कह कर कि हमको तपस्वियों का कारज करना

अवश्य है, तू वही काम कीजो जो पुत्र करता है ।

माढव्य—यह तौ सब करूंगा परन्तु तुम कहीं ऐसा तौ नहीं समझे

कि मैं राक्षसों से डर गया ।

दुष्यन्त—(मुसका कर) नहीं नहीं, तू तौ बड़ा ब्राह्मण है, ऐसा हम

क्यों समझेंगे ।

* त्रिशंकु की कथा प्रसिद्ध है कि वह अयोध्या का राजा था, वशिष्ठ मुनि के बेटों के शाप से चाण्डाल हुआ ; परन्तु विश्वामित्र ने प्रसन्न हो कर उसे देह समेत स्वर्ग भेजना चाहा । जब स्वर्ग के समीप पहुँचा तब देवताओं ने नीचे गिरा दिया, परन्तु विश्वामित्र ने पृथिवी पर न आने दिया । तब से वह भरती और स्वर्ग के बीच में अब तक लटकता है ।

(५१) दूर दूर पर दो काम करने को हैं और दोनों ही अवश्य हैं । इस सोच विचार में मेरा मन ऐसा बट रहा है जैसे शिला से टकरा कर नदी की धार बट जाती है ।

मादव्य—तौ अब मुझे राज के छोटे भाई की भाँति जाना चाहिये ।

दुष्यन्त—हाँ, इसीलिये यह सब भीड़ भाड़ भी तेरे साथ भेजता हूँ । तपोवन से बिघ्न का दूर ही रहना अच्छा है ।

मादव्य—(बैँचा सिर करके) तौ तौ मैं अब युवराज ही हो गया ।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह बड़ा चपल है । कहीं हमारी लगन का वृत्तान्त रनवास में न जा कहे, इसलिये इस्से यों कहुँ (मादव्य का हाथ पकड़ कर प्रकट) मित्र ! मैं केवल ऋषियों का बड़प्पन रखने इस तपोवन में जाता हूँ, यह तू निश्चय जान कि तपस्वी की कन्या शकुन्तला मैं मेरी चाह नहीं है, भला देख तौ—

दोहा

(५२) कहँ हम मरु वह तिय कहाँ, पत्नी जु हरिनिन संग ।
जानति है दुखिया कहा, कैसो मदन प्रसंग ॥
है तोमों वाकी कछु, करी सखा बनरानि ।
सो हाँसो की बान डी, साँघ न लीजो मानि ?

मादव्य—सत्य है ।

[सब जाते हैं]

दूसरा अंक समाप्त हुआ

(५२) कहँ हम और कहाँ वह लड़की जो हरिनियों के साथ जन्म से रही है ।
भला वह वन की रहने वाली शृंगार रस की बातों को क्या जाने, मैंने जो तुझसे उसके मर्दों बात कही थी ; वह केवल मन बहलाने की कहानी थी ।
तू उसे सच्ची मत मानना ।

तीसरे अंक का विष्कम्भ

स्थान तपोवन

(ऋत्विज ब्राह्मण का शिष्य हाथ में कुश लिये आता है)

अहाँ दुष्यन्त बड़ा प्रतापी राजा है। जिसके चरन बन में आते
ही हमारे सब धर्म कार्य निविघ्न होने लगे।

दोहा

(५३) बान चढ़ावन की कहा, करि मुग्धी टंकार ।

हरत दूर ही तें विघन, मनहु चाप हुँकार ॥

अब चल्न वेदी पर बिछाने के लिये ये दाभ मुझे ऋत्विज
ब्राह्मणों को देने हैं। (फिर कर और इधर उधर देख कर) हे प्रिय-
म्बदा ! तू किस के लिये उसीर का लेप और नाल सहित कमल
पत्ते लिये जाती है। (कान लगा कर) क्या कहा, धूप लगाने से
शकुन्तला बहुत व्याकुल हो गई है, उसके शरीर पर लगाने को
ठंडाई लिये जाती हूँ। अच्छा तो जा बहुत जवन उपाय करना
क्योंकि वह कन्या गुरु कन्व का प्राण है, मैं भी अभी गौतमो के
हाथ यज्ञ मन्त्र का शान्ति जल भेजता हूँ।

[जाता है]

इति विष्कम्भ

(५३) धनुष पर बाण चढ़ाया तो दूर रङ्गा केवल प्रणिधा की फटकार ही से सब
बिघ्न मिट गए, जैसे धनुष की हुँकार अथवा घोर ही से बहुधा भय दूर
हो जाती है।

अंक (३)

(आसक्त मनुष्यों की दशा में दुष्यन्त आता है)

दुष्यन्त—(जैची श्वास लेकर)

दोहा

(५४) जानत हूँ तपवल बड़ो, मरु परवश वह तीय ।
तदपि न वासों हटि सके, मेरो व्याकुल हीय ॥
किरत न पाछे नीर ज्यों, भूमि निमानी जाय ।
सो गति मो मन की भई, कीजे कौन उपाय ॥

हे कुसुमायुध ! तू और चन्द्रमा हम दोनों प्रेमीजनों के विश्वासघाती हो ।

शिखरनी

(५५) हिमांशू चन्दा सों कुसुमशर तोसों कहत क्यों ।
नहीं साँचे दोऊ इन गुनन मोसे जनन कों ॥
खरी छोड़े ज्वाला वह किरिन पाला संग धरी ।
तुहू बजाकारी निज सुमन के बानन करे ॥

(५४) मैं तप के प्रभाव को जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि शकुन्तला पराए बस है, फिर भी मेरा मन उससे हटता नहीं, जैसे नीची भरती में जाकर पानी पीछे नहीं लौटता ।

(५५) हे कामदेव तुझे फूल के बानोंवाला और चन्द्रमा को शीतल किरणोंवाला कहना मुझ सरीके मनुष्यों के लिये असत्य दीखता है, क्योंकि तेरे बान सौ बज्र के समान कठोर हैं और चन्द्रमा की ठंडी किरणों में आग भरी है ।

हे कन्दर्प, तुझे मेरे ऊपर क्यों दया नहीं आती । (मदनबाधा सी दिखाता हुआ) तेरे कुसुमबान का मनी ऐसी पैनी क्यों हुई ? हाँ जाना ।

दोहा

(५६) अग्नि मजों हरकोप को, दहकति है तो माहिं ।
जैसे बड़वा समुंद में, संशय नैकहु नाहिं ॥
जो न हेतु होतो यही, तौ, कैसे तू माप ।
भसम भयो मोसे जनन, देतो पतौ ताप ॥

फिर भी—

दोहा

(५७) मनबाधा यद्यपि करत, तू मकरध्वज नित्त ।
कल न देत एकहु घरी, व्याकुल राखत चित्त ॥
तदपि गिनूँ तेरो यहू, बहुत बड़ा उपकार ।
वा मदलोचनि कारने, जो तू करत प्रहार ॥

हे पंचशर, मैंने तेरी बहुत स्तुति की, परन्तु तू मुझ पर दयालु न हुआ ।

(५६) महादेव के कोप की अग्नि तुझ में अब तक दहकती है ; क्योंकि ऐसा न होता तो तू तौ भस्म हो चुका था ; फिर कामी जनों को क्यों इतना ताप दे सकता ।

(५७) हे मकरध्वज, तू मेरे मन को बाधा तौ देता है परन्तु मैं फिर भी तेरा उपकार ही मानता हूँ, क्योंकि तू उसी मदनलोचनी के कारण मेरे ऊपर बान छोड़ता है ।

शिखरनी

(५८) वृथा तोकों मैंने बल नियम सौ सौ करि दिये ।
कियो मेरो योंही सब रतिपती निष्फल गयो ॥
यही साहे तू लै अब धनुष खेंचे करन लों ।
करे बेभो मेरो हिय शर चलावे जतन सों ॥

(खेदित सा इधर उधर फिरता है) हाय जब यह समाप्त होगा
ऋषियों से विदा होकर मैं कहाँ अपने दुखों जीव को ले जाऊँगा ।
(गहरी श्वास लेकर) प्रिया के दर्शन बिना कोई मुझे धोरज देने
वाला नहीं इसलिये उसी को दूँडूँ । (सूरज को आर देख कर) इस
कठिन दुपहरी को शकुन्तला कहीं मालिनीतट की लता कुओं में
सखियों के साथ बिताती होगी अब वहीं चलूँ । (फिर कर और
देख कर) इन नई लताओं में होकर प्यारी अभी गई होगी ऐसा
मुझे दोषता है, क्योंकि—

देहा

(५९) जिन डारन ते' मम प्रिया, लुने फूल भर पात ।
सूख्यो दूध न छत भस्मा, तिनकी अजों लखात ॥

(५८) यज्ञ में कामदेव को भाग नहीं मिलता जैसा कि और देवताओं को मिलता
है; परन्तु कामीजनों के नियम और वृत्त कामदेव को पुष्ट करते हैं; इसलिये
दुष्यन्त कहता है कि हे कामदेव, मैंने वृथा ही नियम करके तुझे पुष्ट
किया; क्योंकि अब तू मुझी पर कान तक खेंच कर बान चलाता है, यह
तो उचित नहीं है ।

(५९) जिन डालियों से प्यारी ने फूल पत्ते तोड़े हैं उनके अभी कौद नहीं भरे
और दूध भी नहीं सूखा ।

(पवनका कगना प्रगट करके)—अहा यह स्थान कैसा सुहावना लगता है ।

दोहा

(६०) लिये कमलरज गन्धि अरु , कण मालिनी तरंग ।

आइ पवन लागति भली, मदन देह मम अंग ॥

(फिर कर और नीचे देखकर) बेतों से घिरे हुए इसी लता-मंडप में प्यारी होगी, क्योंकि—

दोहा

(६१) दीखत पड़ू रेत में, नए खोज या द्वार ।

आगे उठि पाछे घसकि, रहे नितम्बन भार ॥

भला इन वृक्षों में देखूँ तौ । (फिर कर और हर्ष सहित देख कर) अहा, अब मेरे नेत्र सफल हुए मनभावती वह फूलों से सजी हुई पटिया पर पौढ़ो है और दोनों सखी सेवा में खड़ी हैं । अब होसो हो इनके मते की बातें सुनूँगा ।

[खड़ा होकर देखता है]

(दोनों सखियों समेत शकुन्तला दीखती है)

दोनों सखी—(प्यार से पंखा झल कर) हे सखी शकुन्तला, हम कमल के पत्तों से व्यार करती हैं, सो तेरे शरीर को अच्छी लगती है कि नहीं ?

(६०) यहाँ कमलों से सुगन्धित और मालिनी की तरङ्गों से शीतल होकर पवन आती है जिस के स्पर्श से मेरी काम की दही देह को सुख होता है ।

(६१) इस कुंज के द्वार पर पीले रेत में नए खोज बने हैं जो नितम्बों के बोझ से ण्डी की ओर गहरे और आगे को उठे हुए हैं ।

शकुन्तला—सखियो ! तुम मेरे ऊपर क्यों पड़ा झलती हो ?

[दोनों सखी दुखी सी हाकर एक दूसरी को देखती हैं]

दुष्यन्त—(आप ही आप) शकुन्तला तौ बेचैन सी दीखती है (सोच कर) क्या इसे धूप लगी है अथवा बेचैनी का कारण वही है जो मेरे मन में भासता है (अभिलाषा दिखाता हुआ) अब सन्देह को छोड़ूँ ।

(६२)—सवैया

लगि लेप उसीर उरोज रसां कर एक सढील मृनालबला ।
कलु पीड़ितसौ तन है प्रिय कौ कमनीय तऊ जिमि चन्दकला ॥
मकरध्वज की मरु ग्रीषम की दुहु ताप कहावति तुल्यबला ।
परि ग्रीषम त्रास करे न कहूँ मनभावन ऐसी नई अबला ॥

प्रियम्बदा—(हील अनसूया से) हे अनसूया जब शकुन्तला की दृष्टि उस राजर्षि पर पड़ी तभी से आसक्त सी हो गई, कहीं वही रोग तौ इसे नहीं है ?

(६२) उसीर (शिवाल , का लेप छाती पर लगा है, एक हाथ में कमलनाल का ढीला कतन है और यद्यपि कुछ दुखी सी दीखती है, तौ भी इसका शरीर मनाहर है । ग्रीषम की और कामदेव की ताप समान होती है, परन्तु ग्रीषम की ताप से नई स्त्रियों का रूप ऐसा सुन्दर नहीं हो जाता, इससे निश्चय यह कामदेव की सताई है ।

अनसूया—(हँसे प्रियम्बदा से) मेरे मन में भी यही शङ्का होता है ।
भला इससे पूछना तौ चाहिये (प्रगट) हे सखी ! तेरी
पीड़ा बहुत बढ़ गई है, इससे मैं तुझ से कुछ पूछा
चाहती हूँ ।

शकुन्तला—(सेज से थोड़ी उठ कर) क्या पूछना चाहती है ?

अनसूया—सखी ! मदन व्यौहारो को तौ हम क्या जाने, परन्तु जैसी
दशा लगन लगे मनुष्यों की कहानियों में सुनी है वैसी
तेरी दीखती है । तू कह दे तुझे क्या रोग है, क्योंकि
मरम जाने बिना कोई औषधि भी नहीं कर सकता ।

दुष्यन्त—(आप ही आप) अनसूया को भी मेरी ही सी शंका है ।

शकुन्तला—(आप ही आप) मेरी लगन तौ बहुत कठिन है, इनसे
सहज क्योंकर कह सकूँगी ।

प्रियम्बदा—हे शकुन्तला ! यह अच्छा कहती है । तू अपने रोग को
थोड़ा मत जान, दिन पर दिन दुबली होती जाती है, अब
केवल स्वरूप ही स्वरूप रह गया है ।

दुष्यन्त—(आप ही आप) प्रियम्बदा ने सत्य कहा ।

खोपाई

(६३) आनन छीन कपोल भयो है ।

उरन उरोज कठोर रह्यो है ॥

दूबर लंक अधिक दुबराई ।

भुके कन्ध मुख पै पियराई ॥

(६३) इसके कपोल दुबले दिखते हैं, उरोजों में कड़ापन नहीं रहा, कष्ट पतली
तौ थी ही अब और भी पतली हो गई है मुख पै पीलापन छा गया है
कन्धे झुक गये हैं अब इस काम की सतार्ई का शरीर दया के योग्य है,
परन्तु फिर भी मनोहर है जैसे बू की मारी चमेली का ।

करना जोग दूगन अति प्यारी ।
मदन बिथित दीखति यह नारी ॥
मनहु माधवी लता सताई ।
पातसोख मारुन दुख दाई ॥

शकुन्तला—सखी ! तुम से न कहूँगी किससे कहूँगी, तुम्हें को
दुख दूँगी ।

प्रियम्बदा—प्यारी इसी से तो हम हठ करके पूछती हैं, हितूजनों
को बताने से दुःख घटता है ।

दुष्यन्त—(आप ही आप)—

(६४)—सवैया

सुख दुख की साझिन साथिनियाँ मिलि पूछति हैं दुखरा तिय कौ ।
अब देहिगी माँच बताय तिन्हे यह कारन रोग सबै जिय कौ ॥
मुहि चाव सों बारहि बार लख्यो मुख मोरि मनो मुखरा पिय कौ ।
अकुलाय तऊ धों कहूँगी कहा मिटि धीरज मेरे गयो हिय कौ ॥

शकुन्तला—हे सखी ! जब से मेरे नेत्रों के सामने तपोवन का
रत्नवाला वह राजपि आया तभी से ।

[इतना कह लजित होकर चुप रह जाती है]

दोनों सखी—सखी ! कहे जा ।

(६४) दुख सुख की बटाने वाली सहेली इसके शरीर की बिथा का कारण पूछ
रही हैं, उन्हें ठीक बता देगी । यद्यपि इसने फिर फिर कर मेरी ओर
बड़े प्यार से देखा था, तो भी मुझे धीरज नहीं होता (क्योंकि मैं डरता
हूँ कि बिथा का कारण कुछ और न बतावे) ।

शकुन्तला—तब से मेरा मन उसके बस होकर इस दशा को पहुँचा है ।

दुष्यन्त—(हर्ष से आप ही आप) जो मैं सुना चाहता था सोई सुन लिया ।

दोहा

(६५) मनसिज हा दीनो इतौ, मेरे मन सन्ताप ।
ताही ने करिके दया, फिर दुख मेट्यो आप ॥
प्रीषम बीतैं दिवस ज्यों, कारे बादर लाय ।
मेरत दुख प्रानीन के, पहले देह तपाय ॥

शकुन्तला—जो तुम उचित समझो तौ ऐसा उपाय करो जिससे वह राजर्षि मुझ पर दया करे, नहीं तौ मुझे तिलाञ्जलि दो॥

दुष्यन्त—(आप ही आप) इस वचन से तौ मेरा सब संशय मिट गया ।

प्रियम्बदा—(हीले अनसूया से) हे सखी ! इसकी प्रेमबिथा इतनी बढ़ गई है कि अब उपाय में बिलम्ब न होना चाहिये और जिस पर यह मोहित है, वह तौ पुरुवंश का भूषण है ही, इसलिये अभिलाषा भी इसकी बड़ाई के योग्य है ।

(६५) कामदेव ने मुझे सन्ताप दिया और उसी ने शकुन्तला को मेरी ओर आसक्त करके मेरा सन्ताप मिटाया, जैसे पावस का दिन पहले पशु पक्षियों को व्याकुल करता है फिर काली घटा लाकर सब को सुख देता है ।

• तिलाञ्जलि दो अर्थात् मरी समझो ।

अनसूया—तू सच कहती है।

प्रियम्बदा—(प्रगट) सखी धन्य है तेरा अनुराग क्यों न हो समुद्र
को छोड़ महानदी कहाँ जा सकती है और आम के
बिना नए पत्तोंवाली माधवी को कौन ले सकता है ?

दुष्यन्त—(आप ही आप) जो बिशाखा की तरफ़ों चन्द्रकला को
बड़ाई करें तो क्या अचम्भा है ?

अनसूया—फिर क्या उपाय है जिससे प्यारो का मनोरथ तुरन्त
सिद्ध हो और कोई जाने भी नहीं।

प्रियम्बदा—मनोरथ तुरन्त सिद्ध होना तो कठिन नहीं है, परन्तु
उपाय गुप्त रहना कठिन है।

अनसूया—क्योंकर।

प्रियम्बदा—जब से उस राजर्षि ने इसे स्नेह की दृष्टि से देखा है
क्या वह रात रात भर जागने से दुबल नहीं हो गया है ?

दुष्यन्त—(अपना शरीर देख कर) सच है, हो तो ऐसा ही गया हूँ,
क्योंकि—

दोहा

(६६) निशि निशि आँसू ताप के, परत भुजा पै आय।
मानिक या भुजबन्द से, फीके भए बनाय ॥
बार बार ऊँचो करूँ खिसलि २ यह जात।
मुरखो हु की गूँथि पै नक नहीं ठैरात ॥

(६६) रात में जब पिर के नीचे बाँह रख कर सोता हूँ मन्ताप के तसे आँसू
भुजबन्द पर पड़ते हैं, जिसे भुजबन्द के रत्न फीके हो गये हैं और मैं
दुबला इतना हो गया हूँ कि इस आभूषण को बार बार ऊँचा करता हूँ,
परन्तु यह नीचे ही को खिसकता है, प्रतिष्ठा की गूँथ पर भी नहीं ठैरता।

प्रियम्बदा—(सोच कर) हे सखी अनसूया ! मेरे बिचार में आता है कि इससे एक प्रीतिपत्र लिखाऊँ और फूलों में रख कर देवता के प्रसादमिस राजा के पास पहुँचा दूँ ।

अनसूया—सखी ! यह उपाय तो बहुत उत्तम है, शकुन्तला क्या कहती है ?

शकुन्तला—इस का परिणाम मुझे सोच लेने दो ।

प्रियम्बदा—सखी ! तू सोच कर अपने ऊपर लगता हुआ कोई ललित सा छन्द बना दे ।

शकुन्तला—छन्द तो बना दूँगी परन्तु मेरा हृदय काँपता है कि कहीं वह पत्र को लीटा कर मेरा अपमान न कर दे ।

दुष्यन्त—(प्रसन्न होकर आप ही आप)—

दोहा

(६७) जासों तू शङ्का करति, मतिरु अनादर देइ ।

अभिलाषी तो दरश को, ठाढ़ी लखि किन लेइ ॥

कमला मिले कि ना मिले, ताहि चहत जो कोइ ।

पै जाकों कमला चहै, सो दुर्लभ क्यों होइ ॥

(६७) जिसकी ओर से तुझे डर है कि कहीं चिट्ठी फेर कर अनादर न करदे सो तेरे मिलने का अभिलाषी यह खड़ा है । लक्ष्मी चाहे माँगने से न भी मिले परन्तु यह क्योंकि हो सकता है कि जिसे लक्ष्मी चाहे वह न मिले ।

दोनों सखी—हे अपने गुणों की निन्दक ! भला बता तौ ऐसा मूर्ख
कौन होगा जो शरीर का ताप मिटाने वाली शरद
चाँदनी को गोकने के लिये सिर पर कपड़ा ताने ।

शकुन्तला—(मुसका कर) लो मैं तुम्हारा कहना करती हूँ ।
[सोचती है]

दुष्यन्त—(आप ही आप) प्यारी को लोचन भर देखने का यह
अवसर अच्छा है ।

देहा

(६८) छन्द रचित सोचित बरन , भृकुटी एक चढ़ाय ।

पुलक कपोलन तें रही , मेा में प्रीति जनाय ॥

शकुन्तला—सखी गीत तौ मैंने बना लिया ; परन्तु लिखने की
सामग्री नहीं है ।

प्रियम्बदा—इस शुकोदर समान कोमल कमल के पत्ते पर नखों से
लिख दे ।

शकुन्तला—(पत्ते पर गीत लिख कर) सखियो ! सुनो, इस छन्द में
अर्थ बना कि न बना ।

दोनों सखी— अच्छा बाँच ।

शकुन्तला— (बाँचती है)

(६८) छन्द बनाने में एक भौंह उठाए हुए यह कैसी सुन्दर लगती है और
इस के गदगद कपोलों से मेरी ओर कैसी प्रीति झलक रही है ।

दोहा

(६६) तो मन की जानति नहीं , अहो मीत बेपीर ।
पै मो मन कों करत नित , मनमथ अधिक अधीर ॥

सोरठा

लाम्यो तोसों नेह , रैन दिन कल ना परे ।
काम तपावत देह , अभिलाषा तुहि मिलन की ॥

दुष्यन्त—(झटपट आगे बढ़ कर)—

दोहा

(७०) केवल तोहि तपावही मदन अहो सुकुमारि ।
भस्म करत पै मो हियो तू चित देखि बिचारि ॥

सारठा

भानु मन्द करवैत , केवल गंधि कमोदिनिहि ।
पै शशिमंडल स्वेत , होत प्रात के दरस तैं ॥

दोनों सखी—(देख कर हर्ष सहित उठती हैं) बड़े आनन्द की बात
है कि मनोरथ तुरन्त सिद्ध हो गया ।

(शकुन्तला आदर देनेको उठती है)

दुष्यन्त—रहो रहो, मेरे लिये क्यों परिश्रम करती हो ?

(६९) हे मीत मैं तेरे मन को तो जानती नहीं हूँ परन्तु मेरे मन को कामदेव
नित बेचैन करता है और मेरे शरीर को जो तुझ से मिलने का अभिलाषी
है तपाता है ।

(७०) हे सुन्दरी तुझे तौ कामदेव तपाता ही है पर मुझे भस्म ही किये डालता
है, जैसे दिन कमोदिनी की शोभा को इतना नहीं बिगाड़ता जितना कि
चन्द्रमा की शोभा को ।

दोहा

(७१) सुमनसेज तँ लगि रहे , सुन्दरि तेरे गात ।
सुरमितहूँ मिडि के भये, मृदुल नाल जलजात ॥
खेदित से दीखत खरे , कठिन ताप के रोग ।
आदर देवे काज के , नहि उठन के जोग ॥

अनसूया—अजी इस चट्टान पै विराजिये जहाँ शकुन्तला बैठी है ।

[राजा बैठा है शकुन्तला लजाती है]

प्रियम्बदा—तुम दोनों का एक दूसरे में अनुराग तो प्रत्यक्ष है
परन्तु फिर भी सखी का प्यार मुझ से कुछ कहलाया
चाहता है ।

दुष्यन्त—कहना है सो कहो ; क्योंकि जो बात कहने को मन में
आई हो और कही न जाय वह पीछे दुख देतो है ।

प्रियम्बदा—प्रजा में जो किसी को कुछ विपत्ति हो उसको राजा
दूर करे ऐसा तुम्हारा धर्म कहा है ।

दुष्यन्त—सत्य है इससे बड़ा कोई धर्म राजा के लिये नहीं है ।

प्रियम्बदा—हमारी इस प्यारी सखी को कन्दर्प बली ने तुम्हारी
लगन में इस दशा को पहुँचा दिया, अब तुम्हीं इस
योग्य हो कि कृपा करके इसके प्राण रक्खो ।

(७१) तेरा ताप का सताया शरीर पुष्प शय्या से लगा हुआ और कमल
की कोमल पंखरियों से सुगन्धित इतना कष्ट सहने योग्य नहीं है ।

दुष्यन्त—हे सुन्दरी ! प्रार्थना तो दोनों ओर समान है परन्तु अनु-
ग्रह सब भांति तुझी पर है ।*

शकुन्तला—(प्रियम्बदा की ओर देख कर) राजर्षि को क्यों यहाँ
विलमाती हो इनका मन रनवास में धरा होगा ।

दुष्यन्त—हे सुन्दरी ।

दोहा

(७२) तेरे ही बस मेा हियो , अरु काहू बस नाहि ।
बसति तुहो मदलोचनी , मेरे हिय के माहि ॥
जो यातैं औरहि कळू , शंका उपजी तोहि ।
तौ मनमथ बानन हन्यो , फेरि हनति तू मेारि ॥

अनसूया—(हँस कर) हे सज्जन हम सुनती हैं कि राजा बहुत रानियों
के प्यारे होते हैं ; परन्तु तुम हमारी सखी का ऐसा
निरबाह करना जिससे इसके बान्धवों को क्लेश न हो ।

दुष्यन्त—हे सुन्दरी ! अधिक क्या कहूँ ।

दोहा

(७३) होय बड़े रनवास मम , द्वै कुलभूषन नारि ।
सागर रसना बसुमतो, अरु यह सखी तुम्हारि ॥

* प्रार्थना दोनों ओर समान है अर्थात् जैसे तू इसके प्राण रखने को मुझ से
कहती है मेरे प्राण भी रखने को इससे कह ।

(७२) मेरा मन तेरे ही बस है और किसी के नहीं और जा तू इसमें कुछ सझा
करती है तो शरीर मानो कामदेव के बानों से मुझ मरे हुए को फिर
मारती है ।

(७३) एक रानी मेरी पृथिवी है दूसरी शकुन्तला होगी इन से ऊपर कोई न
होगी ।

दोनों सखी—तौ अब हमारी चिन्ता मिटो ।

प्रियम्बदा—(अनसूया की ओर देख कर) हे अनसूया देख इधर
दोड़ किये हुए हरिण का बच्चा कैसा अपनी मा को
ढूँढ़ता फिरता है चलो उसे मिला दें ।

[दोनों चकती हैं]

शकुन्तला—सखियो ! मैं अकेली रहो जातो हूँ ; तुम में से एक तौ
यहाँ आओ ।

दोनों सखी—(मुसका कर) अकेली क्यों है जो देशदुनो का रख-
वाला है सो तौ तेरे पास बैठा है ।

[दोनों जातो हैं]

शकुन्तला—क्या दोनों ही गई ।

दुष्यन्त—प्यारी, चिन्ता मत कर क्या मैं तेरा टइलुमा पास नहीं
हूँ ।

शिक्षरनी

(७४) कहे प्यारी तोपै कमल बिजना शोतल भल्लू ।

लगे सीरी सीरी पवन तन कौ आलस मिटे ॥

कहे लैके अंक चरन प्रिय के जावक रचे ।

मल्लू जैसे जैसे सुखद करभोरु तुहि जचे ॥

शकुन्तला—मैं बड़ों का अपराध न लूँगी ।

[उठ कर चलने को होती है]

(७४) हे हाथी की सूँड़ समान जाँघों वाली, तू कहे तौ कमल का पंख तेरे
ऊपर झल्लू जिससे पसीने सूख कर शरीर ठंडा हो, कहे, तेरे महावर छो
हूए पैरों को गोद में लेकर हौले २ मल्लू ।

दुष्यन्त—हे सुन्दरी, अभी दुपहरी कडी है और तेरे शरीर की यह दशा है ।

दोहा

(७५) कुसुम सेज तजि धूप में , लैंके कोमल गात ।
कहां जायगी उर धरे , जलजातन के पात ॥

[हाथ पकड़ कर बिठाता है]

शकुन्तला—हे पुरुवंशी, नीत का पालन करो मदन की सताई हुई भी मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ ।

दुष्यन्त—हे कामिनी, गुरुजनों का कुछ भय मत कर ; क्योंकि कन्व धर्म को जानत हैं, यह बातें सुन कर तुझे दोष न देंगे ।

सोरठा

(७६) बहुत राजऋषि धीय, गई व्याहि गंधर्व बिधि ।
हरषि मातु पितु हीय, तिनहु को आदर दियो ॥

शकुन्तला—अंचल छोड़ दे मैं अपनी सखियों से फिर पूछ आऊँ ।

दुष्यन्त—अच्छा छोड़ूँगा ।

शकुन्तला—कब !

(७५) इस दुपहरी में सेज छोड़ कर तू कमल पत्तों से छाती ढके हुए अपने कोमल शरीर को कहाँ ले जायगी ।

(७६) बहुत से राज ऋषियों की बेटी गंधर्व रीति से व्याही कही हुई सुनी है और यह भी सुना है कि उनके मा बाप ने उन को बुरा नहीं कहा ।

दुष्यन्त—

देहा

(७७) ज्यों कोमल सद फूलतें, मधुकर मधसर पाय ।

मन्द मन्द मधु लेत है, मन की तपनि बुझाय ॥

तैसे ही करि लेहुँ जब, मैं प्यारी सुखदान ।

तेरे मधुर मधुत कौं, सहज सहज रस पान ॥

[शकुन्तला का मुख घटाता है और वह बरजती है
(नेपथ्य में)—हे खकबो ! रात आ गई अब तू अपने नाह से
ग्यारी हो ।

शकुन्तला—(कान लगा कर और सटपटा कर)—हे पौरव ! निश्चय
मेरे शरीर का वृत्तान्त पूँछने, भगवती गौतमी इधर
ही आती हैं, तुम वृत्त की आड में हो जाओ ।

दुष्यन्त—अच्छा यही करूँगा ।

[वृक्ष की ओट में छुपता है

(हाथ में कमण्डल लिये गौतमी दोनों सखियों सहित आती हैं)

दोनों सखी—भगवती ! इधर आओ, इधर आओ ।

गौतमी (शकुन्तला के निकट जा कर)—बेटो ! अभी तेरे शरीर का
ताप कुछ घटा कि नहीं ?

शकुन्तला—हाँ कुछ घटा है ।

गौतमी—इस कुश से जल के तेरा शरीर निरोग हो जायगा ।
(सिर पर पानी के छोंटे देती है)—हे बेटो ! अब सन्ध्या
हुई, चल कुटो को चलें ।

[जाती है

(७८) जैसे समय पाकर भौंरा सदफूल से हौले हौले रस लेकर अपनी प्यास
बुझाता है ऐसे ही, हे सुख देने वाली ! जब मैं तेरे अछूते होठ के रस से
पूरा होऊँगा, तब तुझे छोड़ूँगा ।

शकुन्तला—(आप ही आप) हे मन ! जब सुख लेने का अवसर सन्मुख आया, तब तौ तू अभागा कायर हो गया, अब प्यारे के विरह सन्ताप में तेरी क्या गति होगी (थोड़ी दूर चलकर खड़ी होती है । प्रगट) हे दुःख हरने वाली लता ! अब मैं तुझ से न्यारी होती हूँ ; परन्तु आशा रखती हूँ कि कभी फिर भी तुझे देखूँगी ।

[दुखी सी सब के साथ जाती है]

दुष्यन्त—(पहिले स्थान पर जा कर और गहरी श्वास लेकर)—आहा मनोरथ सिद्ध होने में अनेक बिघ्न पड़ते हैं ।

दोहा

(७८) बार बार अंगुरीन तैं, लीने होठ दुराय ।
 नाहिं नाहिं मीठो बचन, बोली मुख मुरकाय ॥
 ता छिन मृगनैनी बदन, मैं कछु लियो उठाय ।
 पै अधरामृत पान कों, समरथ भयो न हाय ॥

अब कहा जाऊँ ? इसी लतामण्डप में जिसे प्यारी कोड़ा करके छोड़ गई है, घड़ी एक आसन जमाऊँगा ।

[चारों ओर देख कर]

(७८) अँगुलियों से होठ छुपा कर बार बार नहीं कहती हुई का मुख मैंने कुछ उठा तौ लिया, परन्तु होठ का रस लेने को हियाव न पड़ा ।

चौपाई

(७६) यह प्यारी की है शिलशय्या ।

गातन अंकित फूलन मय्या ॥

प्रेम पत्र यह है कुम्हिलाता ।

नख तैं लिख्यो कमल के पाता ॥

यह मृनाल कंकन है सोई ।

गिरयो प्रिया के कर तैं जोई ॥

इनहिं लखत मैं सकत न त्यागी ।

सूनिहु बेत कुञ्ज दुरभागी ॥

(नेपथ्य में)—रे राजा—

दोहा

(८०) सन्ध्या पूजन होत ही, राक्षसगण की छाँह ।

परति आय चहुँ ओर तैं, प्रजुलित बेदिन माँह ॥

साँझ समय के मेघ सम, अलित बरन अरु पीत ।

देति त्रास तपसीन कों, करति ॥ महाभयभीत ॥

दुष्यन्त—हे तपस्वियो ! घबड़ाओ मत, मैं आया ।

तीसरा अङ्क समाप्त हुआ

(७९) यही प्यारी की फूल बिछी हुई शिला की सेज है, यह वह पत्र पड़ा है

जो उसने कमल के पत्ते पर नुह से लिखा था । यह उसके हाथ से गिरा

हुआ कमलनाल का कँगना है, इन सब को देख कर यह अभागी सूनी

कुञ्ज भी मुझ से छोड़ी नहीं जाती ।

(८०) साँझ की पूजा का आरम्भ होते ही जलती हुई बेदियों पर राक्षसों की

काली पीली छाया पड़ने लगी ; जैसे सन्ध्या से बादलों की, और यह

छाया तपस्विन को भयावनी लगती है ।

चौथे अंक का विष्कम्भ

स्थान तपोवन

(दोनों सखी फूल बीनती हुई आती हैं)

अनसूया—हे प्रियम्बदा ! शकुन्तला का गन्धर्व व्याह हुआ और पति भी उसी के समान मिला ; इससे तो मेरे मन को आनन्द हुआ ; परन्तु फिर भी चिन्ता न मिटी ।

प्रियम्बदा—क्यों ?

अनसूया— इस लिये कि, आज वह राजर्षि तपस्वियों का यज्ञ पूरा कराकर अपने नगर को बिदा हुआ है, रतवास में पहुँच कर जाने यहाँ के वृत्तान्त की सुध रखेगा कि नहीं ।

प्रियम्बदा—इस की कुछ चिन्ता मत कर, ऐसे विशेष रूप के लोग स्वभाव के छोटे नहीं होते, अब चिन्ता है तो यह है कि, न जाने पिता कब इस वृत्तान्त को सुन कर क्या कहेंगे ।

अनसूया—मेरे मन में तो यह भासती है कि, वे इस वृत्तान्त से प्रसन्न होंगे ।

प्रियम्बदा—क्यों ?

अनसूया—इस लिये कि, बड़ों का मुख्य सङ्कल्प यही होता है कि, कन्या गुणवान को दी जाय और जो दैव भाग हो ऐसा बर मिला दे, तो उन को समझना चाहिये कि सहज ही कृतार्थ हुए ।

प्रियम्बदा—सत्य है। (कूर्चों की टोकरी देख कर) हे सखी ! जितने
फूल पूजा के चाहियें उतने तो हम बीन चुकीं ।

अनसूया—शकुन्तला से सुहाग देवी की पूजा भी तौ करानो है ।

प्रियम्बदा—अच्छा ।

[दोनों फूल बीनती हैं]

(नेपथ्य में)—यह मैं हूँ, मैं ।

अनसूया—(कान लगा कर)—हे सखी यह तौ किसी अतिथि का
सा बोल है ।

प्रियम्बदा—क्या शकुन्तला कुटी पर नहीं हैं ? (आप ही आप) है
तौ ; परन्तु आज उस का चित्त ठिकाने नहीं है ।

अनसूया—चलो इतने ही फूल बहुत हैं ।

[चकती है]

(नेपथ्य में)—हे अतिथि का निरादर करने वाली ।

चौपाई

(८१) तपोधनी मैं जान कहायो ।

तैं नहिं जान्यो सन्मुख आयो ॥

जाके ध्यान एकटक लागी ।

सुधि बुधि तैं सबही की त्यागी ॥

सो जन युवति भूलि तुहि जाई ।

आवे सुरति न कोटि उपाई ॥

जैसे मदमाती नर कोई ।

प्रथम बात कहि भूल्यो होई ॥

(८१) मैं तप का धनी कहलाता हूँ ; परन्तु तने मुझे सामने आता हुआ न
जाना न मेरा सम्मान किया । इसलिये मैं शाप देता हूँ कि, जिसके
वियोग में तू ऐसी बेसुध ध्यान लगाये बैठी है, वह तुझे भूल जायगा
और बहुत याद दिलाने से भी उसे सुध न आवेगी, जैसे उन्मत्त को
नहीं आती ।

प्रियम्बदा—हाय हाय बुरा हुआ किसी तपस्वी का अपराध बेसुधी में शकुन्तला से बन गया । (आगे देख कर) यह तौ कोई ऐसा वैसा नहीं, महाक्रोधी दुर्वासा ऋषि है, जो शाप देकर रिस का भरा डिगमिगाते पैरों वेग वेग जाता है । भस्म कर देने की सामर्थ्य दो ही में है, एक अग्नि में दूसरे इस ब्राह्मण में ।

अनसूया—हे प्रियम्बदा तू जा पैरों पड़कर जैसे बने इसे मना ला तब तक मैं अर्घ्य जल सँजोती हूँ ।

[जाती है]

प्रियम्बदा—अच्छा ।

अनसूया—(थोड़ी दूर चलकर गिर पड़ती है)—हाय उतावली होकर मैंने फूलों की टोकरी हाथ से गिराई ।

[फूल बीनने लगती है]

(प्रियम्बदा आती है)

प्रियम्बदा—हे सखी इस महर्षि का स्वभाव बड़ा टेढ़ा है, उसे कौन सीधा कर सकता ; परन्तु मैंने कुछ कर लिया ।

अनसूया—इसका थोड़ा मान जाना भी बहुत है, तू यह बतला कि कैसे मनाया ।

प्रियम्बदा—जब लौटने को नट गया, तब मैंने बिनती को कि हे, महापुरुष ! इस कन्या का यह पहला ही अपराध है और यह तप के प्रभाव को जानती न थी, ऐसा विचार कर इसे क्षमा करो ।

अनसूया—फिर क्या हुआ ?

प्रियम्बदा—तब बोला कि मेरा वचन भूटा नहीं होता, परन्तु सुधदिलाने वाली मुँदरी के देखने पर शाप मिट जायगा, यह कह कर अन्तर्ध्यान हो गया।

अनसूया—तौ अभी कुछ आशा है; क्योंकि जब वह राजपि चलने को हुआ, अपनी मुँदरी जिसमें उसका नाम खुदा था, शकुन्तला की अंगुली में सुध के लिये पहना गया। वही मुँदरी हमारी सखी को इस शाप का सहज उपाय होगी।

प्रियम्बदा—सखी चलो अब देवकारज से निपट आवें। (उधर फिर कर और देखकर) हे अनसूया ! देख, बायें कर पर कपोल धरे प्यारी सखी कैसी चित्र लिखी सी बन रही है, पति के वियोग में इसे तौ सामने आए हुए की क्या अपनी भी सुध नहीं है।

अनसूया—हे प्रियम्बदा ! यह शाप की बात हम ही तुम जानें, शकुन्तला को मत सुनाओ, क्योंकि उसका स्वभाव कामल बहुत है।

प्रियम्बदा—ऐसा कौन होगा जो नवमल्लिका की लहलही लता पर तपता पानी छिड़के।

[दोनों जाती हैं]

चौथे भट्ट का विष्कम्भ समाप्त हुआ।

अंक (४)

स्थान आश्रम का समीप

(कन्व का एक शिष्य सोते से उठ कर आता है)

शिष्य—महात्मा कन्व, अभी परदेश से आए हैं और मुझे आह्ला दी है कि, देख आ रात कितनी रही है। इस लिये मैं बाहर जाता हूँ। (इधर वधर फिर कर आकाश की ओर देखता हुआ) अहा ! यह तो सवेरा हो गया ।

चौपाई

(८२) एक ओर प्रभु औषधि राई ।
अस्ताचल शिखरन कौ जाई ॥
दूजी ओर पद्मिनीनायक ।
निकस्ये सरुण सहित तमघायक ॥
अस्त उदै सिखरावत इन कौ ।
एक संग द्वै तेजमहत कौ ॥
धीरज धर्म तजें नर नाही ।
निजनिज सम्पति विपतिन माहीं ॥

और देखो—

चौपाई

(८३) अस्ताचल पहुँच्यो शशि जाई ।
दई कुमुदनी कृषि विसराई ॥

(८२) चन्द्रमा और सूरज का भी उदय और अस्त होता है इससे मनुष्य को चाहिये कि अपनी सम्पत्ति और विपत्ति को अजरज न जाने और अधीर न हो ।

(८३) चन्द्रमा के अस्त होने पर क्रमोदिनी की शोभा केवल ध्यान में रह गई है अर्थात् देखने में नहीं है, परन्तु सुध में है कि ऐसी थी । जिन नई स्त्रियों के पति परदेस हैं, उनके वियोग का दुख सहना बहुत कठिन है ।

दूगन देति अब आनद नाही ।
 आय रही छबि सुमरन माहीं ॥
 जिन तिरियन के पीतम प्यारे ।
 देस छोड़ि परदेस सिधारे ॥
 तिन के दुख नहि जात कहेहु ॥
 अबलन पै क्यों जात सहेहु ॥

(अनसूया पट को झटके से उठा कर आती है)

अनसूया (आप ही आप)—यद्यपि मैं संसार की बातों में अज्ञान हूँ, तौ भी इतना मैंने जान लिया कि, उस राजा ने शकुन्तला के साथ अनर्थ किया ।

शिष्य—अब होम का समय हुआ, गुरुजी से चल कर कहना चाहिये ।

[बाहर जाता है]

अनसूया—मैं उठी भीतौ क्या करूँगी, हाथ पैर तौ कहना ही नहीं करते, अब निर्दई कामदेव का मनोर्थ पूरा हुआ, जिसने हमारी भोली सखी को एक मिथ्यावादी के बस में डाल इस दशा को पहुँचाया है, अथवा यह मूर्ख दुर्वासा के शाप का फल है, नहीं तौ कौंकर हो सकता कि, वह राजर्षि ऐसे वचन देकर अब तक संदेशे का पत्र भी न भेजता । अब सुध दिलाने को अँगूठी उस के पास भेजनी पड़ी, परन्तु इन दुखिया तपस्वियों में किस से कहूँ कि अँगूठी ले जा, जो मैं यह भी जानती कि शकुन्तला का दोष है, तौ भी पिता कन्व से जो अभी तीर्थ करके आए हैं न कह सकती कि, शकुन्तला का

व्याह राजा दुष्यन्त से हो गया और उसे गर्भ भी है ।
अब क्या करना चाहिये ?

(प्रियम्बदा हँसती हुई आती है)

प्रियम्बदा—सखी वेग चल, शकुन्तला की विदा का उपचार करें ।

अनसूया—तू क्या सच कहती है ?

प्रियम्बदा—सुन, अभी मैं शकुन्तला से पूछने गई थी कि रात में
चैन से सोई की नहीं ।

अनसूया—तब ।

प्रियम्बदा—वह तो लाज की मारी सिर झुकाए खड़ी थी, इतने में
पिता कन्व आए और उसे छाती से लगा कर वह शुभ
बचन बोले कि, हे पुत्री ! बड़े मङ्गल की बात है कि, आज
जब ब्राह्मण ने आहुति दी, तब यद्यपि यज्ञ के धुएँ से
उस की दृष्टि धुँधली हो रही थी आहुति अग्नि ही में
पड़ी । हे बेटी ! जैसे योग्य शिष्य को विद्या देने से मन
का खेद नहीं होता, ऐसे आज मैं तुझे बिन खेद तेरे
भरता के पास ऋषियों के साथ भेज दूँगा ।

अनसूया—हे सखी ! जो बातें मुनि के पीछे हुईं सो उनसे किसने
कह दीं ?

प्रियम्बदा—जब मुनि यज्ञस्थान के निकट पहुँचे तब आकाशवाणी
कुन्द में कह गई ।

अनसूया (चकित होकर)—क्या कह गई ?

प्रियम्बदा—सखी सुन, आकाशवाणी ने यह कहा—

दोहा

(८४) शमी गरभ में अनल ज्यों, त्यों तेरी धिय सन्त ।

धारति तेज दियो जु नृप, प्रजा हेत दुष्यन्त ॥

अनसूया (प्रियम्बदा को भेट कर)—हे सखी ! यह सुन कर तौ मुझे बड़ा आनन्द हुआ, बड़ा सुख हुआ, परन्तु जब सोचती हूँ कि शकुन्तला आज ही जायगी, तौ सुख और दुख समान हो जाते हैं ।

प्रियम्बदा—वह सुखी रहेगी इससे हम को भी कुछ शोक न करना चाहिये ।

अनसूया—मैंने इसी दिन को उस नारियल में जो आम के पेड़ पर लटकता है, नित नई नागकेसर की माला रक्खी थी । तू इसे उतार ले, तब तक मैं मृगरोचन और तीर्थ की मिट्टी और दूब, मङ्गल उपचार की सामग्री ले आऊँ ।

प्रियम्बदा—बहुत अच्छा ।

(अनसूया जाती है और प्रियम्बदा माला बतारती है)

(नेपथ्य में)—हे गौतमी ! शारङ्गरव और शारद्वत मिश्रों से कह दो कि शकुन्तला के पहुँचाने को जाना होगा ।

प्रियम्बदा (कान लगा कर)—अनसूया ! विलम्ब मत कर, हस्तिना-पुर जाने वाले ऋषि बुलाए जाते हैं ।

(८५) जैसे शमी (छोंकर) की लकड़ी के भीतर अग्नि रहती है, तैसे—हे मुनि ! तेरी लकड़ी के गर्भ में वह तेज है, जो राजा दुष्यन्त ने उसे प्रजा का रक्षक उत्पन्न करने को दिया है ।

(अनसूया हाथ में सामग्री लिये आती है)

अनसूया—आमो सखी हम भी चलें ।

[दोनों इधर उधर फिरती हैं]

प्रियम्बदा (देखकर)—वह देखो, शकुन्तला सूरज निकलते ही शिर स्नान करके बैठी है और बहुत सी तपस्विनी हाथ में तन्दुल लिये आशीस दे रही हैं, चलो हम भी वहाँ चलें ।

[जाती है]

(ऊपर कही हुई भाँति शकुन्तला बैठी दीखती है)

एक तपस्विनी—(शकुन्तला की ओर देख कर)—हे बेटो ! तू पति से मान पाकर महारानी हो ।

दूसरी—तू सूरबीर की माता हो ।

तीसरी—तू पति की प्यारी हो ।

[आशीर्वाद देकर सब जाती हैं, गीतमी रहती हैं]

दोनों सखी (शकुन्तला के निकट जाकर)—तेरा स्नान मङ्गलकारी हो ।

शकुन्तला (आदर से)—सखियो भली आई, यहाँ बैठी ।

दोनों सखी (मङ्गल पात्र हाथ में लिये हुए बैठती हैं)—सखी ! तू चलने का उपस्थित हो आ, पहले हम नेगचार का उबटन कर दें ।

शकुन्तला—हे प्यारियो ! तुम्हारे हाथ से फिर सिङ्गार मिलना मुझे दुर्लभ हो जायगा, इसलिये जो कुछ तुम आज मेरे लिये करोगी, मैं बहुत करके मानूँगी ।

[आँसू गिराती है]

दोनों सखी—सखी ! ऐसे मंगल समय रोना उचित नहीं है ।

[आँसू पोछ कर वस्त्र पहनाती हैं]

प्रियम्बदा—हे सखी ! तेरे इस सुन्दर अङ्ग को अच्छे अच्छे गहने कपड़े चाहिये थे, ये आश्रम के फूल पत्ते तो अनर्होंते को हैं, अच्छे नहीं लगते ।

(दो ऋषिकुमार बस्त्राभूषण लिये आते हैं)

दोनों ऋषिकुमार—भगवती को ये वस्त्राभूषण पहनाओ ।

[देखकर सब चकित होती हैं]

गौतमी—हे पुत्र नारद ! ये कहाँ से आये ?

पहला ऋषिकुमार—पिता कन्व के प्रभाव से ।

गौतमी—क्या मन में बिचारते ही प्राप्त हो गए ।

दूसरा ऋषिकुमार—नहीं, सुनो—जब महात्मा कश्यप की आज्ञा हम को हुई कि, शकुन्तला के निमित्त लता वृक्षों से फूल ले आओ । तब तुरन्त—

चौपाई

(८४) काहू तरवर दीन्ह उतारी ।
मंगलीक शशि सम सितसारी ॥
काहू दियो लाख रस सोई ।
जासों तुरत महावर होई ॥
औरन बहुबिधि भूषण भीने ।
बन देविन के हाथ न दीने ॥
ते निकसे पहुँचे लों हाथा ।
होड़ करन नवशाखन साथी ॥

(८५) किसी वृक्ष ने स्वेत मङ्गलीक साड़ी दी, किसी ने महावर की लाख दी, किसी ने बन देवियों के हाथों बहुत प्रकार के गहने दिए और बन देवियों के हाथ पहुँचे तक ऐसे दीखे मानों नई शाखा हैं ।

प्रियम्बदा (शकुन्तला को देखकर) — बनदेवियों से वस्त्राभरण मिलना,
यह सगुन तुझे सासरे में राजलक्ष्मी का दाता होगा ।

[शकुन्तला लजाती है]

पहला ऋषिकुमार — हे गौतम ! आम्हों, गुरु जी स्नान करके आ
गए, चलो उनसे बनदेवियों के मरकार का वृत्तान्त कह दें
दूसरा — अच्छा ।

[दोनों जाते हैं]

दोनों सखी — हे सखी । हम आभूषणों को क्या जाने, परन्तु
चित्र विद्या के बल से तेरे अङ्गों में पहना देंगी ।

शकुन्तला — मैं तुम्हारी चतुराई जानती हूँ ।

[दोनों शृङ्गार करती हैं]

(कन्व स्नान किये हुए आते हैं)

कन्व —

दोहा

(८६) आज शकुन्तला जायगी, मन मेरो अकुलात ।
रुकि आँसु गदगद गिरा, आँखिन कछु न लखात ॥
मोसे बनबासोन जो, इतौ सतावत मोह ।
तौ गेही कैसे सहें, दुहिता प्रथम बिछोह ॥

[इधर उधर टहलते हैं]

दोनों सखी — हे शकुन्तला ! तेरा सिंगार हो चुका, अब कपड़े का
जोड़ा पहन ले ।

[शकुन्तला उठकर साड़ी पहिनती है]

(८६) आज शकुन्तला जायगी, इससे मेरा मन बहुत उदास है, गले से बात
नहीं निकलती और आँखों से धुँधला दीखता है, जब मुझ सरीके
तपस्वियों को भी बेटी का पहला बियोग इतना दुःख देता है, तो
गिरिस्त्रियों की क्या दशा होती होगी ?

गौतमी—हे पुत्री ! आनन्द के आँसु भरे नेत्रों से तुझे देखने गुरु
जो आते हैं, तू इन्हें आदर से ले ।

शकुन्तला—(उठ कर लजा से)—पिता मैं नमस्कार करती हूँ ।
कन्व—हे बेटी—

दोहा

(८७) तू पति की आदरवी, हूजों ता घर जाय ।
जैसे सरमिष्ठा भई, नृप ययाति बर पाय ॥

सोरठा

छत्रपती पुर नाम, जैसा सुत बाने जन्यो ।
चक्रवती अभिराम, तैसो ही जनिये तुह ॥

गौतमी—हे महात्मा ! यह तौ आशीर्वाद क्या है बरदान है ।

कन्व—आ बेटी ! तुरन्त आहुति दी हुई अग्नियों की प्रदक्षिणा
कर ले ।

[सब प्रदक्षिणा करती हैं]

शिखरनी

(८८) चढ़ूँ घाँ वेदी के विधिवत रची हैं अग्निनि ये ।
बिछी दर्भा नेरे अरु प्रजुल सोहैं समिद ले ॥

(८७) जैसे राजा ययाति की रानी होकर सरमिष्ठा ने आदर पाया, तैसे तू भी
पति से आदर पावेगी, जैसे सरमिष्ठा ने छत्रपती बेटा गुरु जना, ऐसे तू
भी चक्रवर्ती बेटा जनेगी ।

(८८) यही यज्ञ की अग्नियाँ जो वेदी के चारों ओर रखी हैं और जिनके आस
पास दाम बिछी हैं, यही अग्नियाँ जो समिद से प्रजुलित हैं और जो हव्य
की सुगन्धि से पापों का नाश करती हैं, तुझे पवित्र करें ।

नसाधे प्राणी के अघ हविरगन्धी धुवन तें ।

यही ज्वाला तेरे दुरित सब बेटी परिहरें ॥

अब पुत्री तू शुभ घड़ी में विदा हो । (चारों ओर देख कर)
सङ्ग जाने वाले मिश्र कहाँ है ।

(शारङ्गरव और शारदूत आते हैं)

शिष्य—मुनि जी हम ये हैं ।

कन्व—अपनी बहन को गैल बताओ ।

शारङ्गरव—आओ भगवती ! इधर आओ ।

[सब चलते हैं]

कन्व—हे तपोवन के सहबासी वृक्षों—

बोहा

(८६) पाछे पीवत नीर जो, पहले तुम कों प्याय ।

फूल पात तोरति नहीं, गहने हू के चाय ॥

जब तुम फूलन के दिवस, आवत है सुधदान ।

फूली अङ्ग समाति नहीं, उत्सव करत महान् ॥

सो यह जाति शकुन्तला, आज पिया के गेह ।

आज्ञा देहु पयान की, तुम सब सहित सनेह ॥

[कोयल का बोल जता कर]

(८९) हे वृक्षों ! जो शकुन्तला तुम्हें सींचे बिना जल नहीं पीती थी, जो गहना बनाने को भी तुम्हारे फूल पत्ते नहीं तोड़ती थी, जो तुम्हारे फूलने के दिनों बड़ा उत्सव मनाती थी सो आज सुसराल जाती है । तुम सब इसे प्रीति सहित बिदा करो ।

यह देखो—

दोहा

- (६०) आज्ञा देत पयान की, ये तरवर बनराय ।
बनवासिन के बन्धुजन, कोयल शब्द सुनाय ॥
(नेपथ्य में) —

चौपाई

- (६१) पंथ होय याकों सुखकारी ।
पवन मन्द अरु अभिमतचागी ॥
ठौर ठौर सरिता सर आवें ।
हरित कमलिनी छाय सुहावें ॥
तरवर सीतल छाँह घनेरे ।
मेटनहार ताप रवि करे ॥
मृदुल भूमि पग पग सुखदाई ।
मनहु कमल रज दीन्ह बिछाई ॥

(सब कान लगाकर अच्छे से सुनते हैं)

गौतमी—हे पुत्री ! तेरी हितकारिनी तपोवन की देखियाँ तुझे
आशीर्वाद देती हैं, तू भा इन को प्रणाम कर ।
शकुन्तला (नमस्कार करके प्रियम्बदा से हँसते हँसते)—हे प्रियम्बदा !
आयपुत्र से फिर मिलने का तौ मुझे बड़ा चाव है, परन्तु
आश्रम को छोड़ते हुए दुःख के मारे पाँव भागे
नहीं पड़ते ।

- (९०) बनवासियों के प्यारे ये वृक्ष शकुन्तला को कोयल के मुख से सुसारा
जाने की आज्ञा देते हैं ।
(९१) इसको मार्ग सुखकारी हो, ठौर ठौर हरी कमलनियों से छाये हुए ताक
और नदी आवें । घाम मेटने वाले घने घने वृक्ष मिलें और मार्ग ऐसा
कोमल हो, मानो इस में कमल के फूलों की रज बिछी है ।

प्रियम्बदा—अकेली तुम्ही को दुःख नहीं है, ज्यों ज्यों तेरे बियोग का समय निकट आता है, तपोवन भी उदास ल दीखता है ।

दोहा

(६२) लेत न मुख में घास मृग, मोर तजत नन जात ।

आँसू जिमि डारत लता, पीरे पीरे पात ॥

शकुन्तला (सुध काती हुई सी)—पिता ! मैं इस माधवी लता को भी मिल लूँ, इस में मेरा बहन कासा स्नेह है ।

कन्य—बेटी मैं भी जानता हूँ, तेरा इसमें सहोदरा का सा प्या है । माधवी लता यह है दाहनी ओर ।

शकुन्तला (लता के निकट जाकर)—हे वनज्योतसना यद्यपि तू आम से लिपट रही है, तौ भी इन शम्भारूपी बाँह से पुझे मिल ले, क्योंकि अब मैं तुझ से दूर ज पड़ूँगी ।

कन्य—

दोहा

(६३) जैसो पति तेरे लिये, मैं संकलप्यो आय ।

तैवो तैं पायो सुता, अपने पुत्र प्रताप ॥

मिलो भनो नवमल्लिका, यहू आम संग आय ।

आज भयो तूम दुइन तैं, मैं निश्चिन्त उपाय ॥

हे बेटी ! बिलम्ब मन कर अब बिदा हो ।

(९२) हरित चरना और मोर नाचना छोड़ते जाते हैं और लता पीले पीले पन गिराती हैं ; मानो आँसू बहाती हैं ।

(९३) जैसा पति तेरे लिये मैंने अपने मन में विचारा था ; वैसा ही तैने अपने पुत्रों से म. लिया और इन चनेरी को भी अच्छा आम का वृक्ष मिल गया, अब तुम दोनों से मैं निश्चिन्त हुआ ।

शकुन्तला—(दोनों सखियों से)—हे सखियो ! इसे मैं तुम्हारे हाथ सौंपती हूँ ।

दोनों सखी (आँसू बहाती हैं)—हमें किसके हाथ सौंपतो हो ?

कम्ब—हे मनसूया ! अब रोना त्यागो, तुम्हें तो चाहिये कि शकुन्तला को धीरज बंधाओ ।

[सब चकते हैं]

शकुन्तला—हे पिता ! जब यह कुटी के निकट चरनेवाली म्याभन हरिनी, क्षेम कुशल से जने ; तुम किसी के हाथों यह मङ्गल समाचार मुझे कहला भेजना, भूल मत जाना ।

कम्ब—सच्चा, न भूलूँगा ।

शकुन्तला (कुछ चउ कर और फिर कर)—यह कौन है जो मेरा अंचल नहीं छोड़ता ।

[पीछे फिर कर देखती है]

कम्ब—

(६४)—सवैया

कहुँ दाभन तेँ मुख जाको छियो जब तू दुहिता लखि पावनही ।
अपने करनेँ तिन घावन पै तुहो तेन हिंगाट लगावनही ॥
जिहि पालन के दिन धान समा निव मूडहि मूड खवावनही ॥
मृगछोना सो क्यों पग तेरे तजे जाहि पून लों लाइ लड़ावनही ॥

(६५) जिसका मुँह दाभ से चिरा हुआ देख कर घावों पर तू अपने हाथ हिंगाट का तेरु लगाती थी । जिसे तेने समा के चाँवक खिळा खिळा कर पाला है और अपने बेटे की भाँति लड़ाया है, सो इस समय तेरे पैर क्योंकर छोड़ेगा ।

शकुन्तला—अरे छोना ! मुझ सहवास छोड़ती हुई के पीछे तू क्यों आता है। तेरी मा तुझे जनते ही छोड़ मरी थी, तब मैंने तेरा पालन किया, अब मेरे पीछे पिता जी तुझे पालेंगे। तू लौट जा।

[आँसू डालती हुई चली है]

कन्व—

दोहा

(१५) दूढ़ करि आँसू रोकितू, आगे देखन हेत ।

उन्नत बरुनी दूगन ये, काम देन नहिं देत ॥

ऊँची नीची भूमि में, गिरे न ठोकर खाय ।

सावधान पग दाजिये, या मारग में आय ॥

शारङ्गरव—हे महात्मा ! सुनते हैं, कि, प्यारे जनों को पहुँचाने वहीं तक जाना चाहिये, जहाँ तक जलाशय न मिले। अब यह सरोवर का तट आ गया, आप हमें सीखा देकर आश्रम को सिधारे।

कन्व—तौ आओ छिनमात्र इस बट छाया में ठैर ले' ।

(सब पेड़ के नीचे ठहरते हैं)

कन्व (आप ही आप)—उस राजा दुष्यन्त के योग्य क्या संदेशा है, जो मैं भेजूँ ।

[सोचता है]

शकुन्तला (सखी से हँसे हँसे)—हे सखी ! देख, चकवी कमल के पत्तों में छुपे हुए प्यारे चकवे को देखे बिना आतुर हो कर कहनी है कि, मैं अभागी हूँ ।

(१५) धीरज बाँध कर आँसुओं को रोक, ये तेरी उठी हुई बरुनियों वाली आँख को देखने नहां देते, यहाँ भूमि ऊँची नीची है, ऐसा न हो कि तू ठोकर खाकर गिरे ।

मनसूया—सखी ऐसा मत कह ।

दोहा

(६६) दुख की भारी निशि यह, काटति बिन पिय पास ।

मन्द करति कलु बिरह दुख, फेर मिलन की आस ॥

कन्व—हे शारङ्गरव ! शकुन्तला का भागे करके तू हमारी ओर से उस राजा से यों कहना ।

शारङ्गरव—जो आज्ञा ।

कन्व—

चौपाई

(६७) जानि भले हमको तपधारी ।

अपनोहू कुल उच्च बिचारी ॥

अरु जो बन्धु उपाय बिनाहीं ।

भई प्रीति याकी तो माहीं ॥

उचित होइ तोकों नरनाहू ।

सब रानिन सम राखे याहू ॥

और जू अधिकभागि बस भोगू ।

बधू बन्धुजन कहन न जागू ॥

शारङ्गरव—यह सँदेश मैंने भली भाँति गाँठ बाँध लिया है ।

(९६) विरह की मारी रात को यह चकवी भी पति के बिना अकेली काटती है;
क्योंकि पति मिलने की आशा ही विरह के दुःख को मन्दा करती है ।

(९७) हे राजा ! तू हम को तपोधनी और अपने को राजवंशी जानकर और जो प्रीति तुम्हारी और शकुन्तला की आप ही आप दुई, उसे सोचकर, इस छड़की को सब रानियों के समान रखना, हमारा इतना ही कहना है ।
इससे अधिक जो कुछ हो, इसके भाग्य के आधीन है, हमारे कहने योग्य नहीं है ।

कन्व—बेटी ! जब तुझे भी कुछ सीख दूंगा । क्योंकि बलवासी
होकर भी हम लोग लौकिक व्यवहारों को जानते हैं ।

शारङ्गरव—विद्वान् पुरुषों से का छुपा है ।

कन्व—बेटी जब तू यहाँ से जाकर पतिकूल में पहुँचे तब—

चौपाई

(६८) शुश्रूषा गुरुजन की बीजो ।
सखीभाव सौतिन में लीजो ॥
भरता यदपि करे अपमाना ।
कुपित होइ गहियो जिनमाना ॥
मिठभाषिन दासिन संग रहियो ।
बड़े भागि पै गर्व न लहियो ॥
या बिधि तिय गेहिनि पदपावैं ।
उलटी चलि कुल दोष कहावैं ॥

कहे गौतमी ! यह शिक्षा कैसी है ?

गौतमी—कुल बधुओं के लिये यह उपदेश बहुत श्रेष्ठ है । पुत्री !
इसे ध्यान में रखियो ।

कन्व—बेटी मा, मुझ से और अपनी सखियों से मिल ले ।

शकुन्तला—हे पिता ! का प्रियरत्न दा बनसूया यहीं से लौट
जायगी ?

(९८) सुसराल में जाकर बड़े बूढ़ों का आदर सत्कार करियो, सौतों में ईर्ष्याभाव
मत रखियो ; किन्तु सहेलीभाव रखियो । तेरा पति कदाचित् रिस भी हो
जाय तौभी तू मान करके कड़ा दण्ड मत दोसियो । दासियों से मिठ
बोली हूँजियो और इस बात का अभिमान मत करियो कि मैं बड़े राजा
की रानी हूँ । जो बधू इस भाँति चलती है वो अच्छी गृहस्थिन कहलाती
हैं और जो इस से खट्टी रीति चलती हैं सो कुल का दोषन बनती हैं ।

कन्व—बेटी ! जब तक ये कारी हैं, इनका नगर में जाना योग्य नहीं है । गौतमी तेरे सङ्ग जायगी ।

शकुन्तला (कन्व से भेट कर)—अब मैं पिता की गोद से अलग होकर, मलयगिरि से न्यारी की हुई चन्दन शाखा की भाँति, परदेश में कैसे जीऊँगी ?

कन्व—पुत्री ! ऐसी विकल क्यों होती है ?

(६६)—सवैया

जब कन्त कुलीन बड़े यशवन्त की जाय के नारि कहाय है तू ॥
अति वैभव के नित कामन ते छिनहु अवकाश न पाय है तू ।
दिश पूरव जैसे दिनेश जने सुत उत्तम वेगि ही जाय है तू ।
तब मोते बिछोह भए की बिथा मन में नहि नैकहु लाय है तू ॥

(शकुन्तला पिता के पैरों पर गिरती है)

कन्व—मेरे आशीर्वाद से तेरी मनोकामना पूरी होगी ।

शकुन्तला (दोनों सखियों के पास जाकर)—आओ सखियो ! दोनों एक ही सङ्ग मुझे भेट लो ।

दोनों सखी (भेट कर)—हे सखी ! कदाचित् राजा तुझे भूल गया हो, तौ यह मुन्दरी जिस पर उसका नाम खुदा है, दिखा दीजो ।

(९९) जब तू बड़े राजा की रानी होकर घर के कामों से अवकाश न पावेगी और पुत्र भी थोड़े ही दिनों में तू ऐसा जन लेगी जैसा कि पूरव की दिशा सूरज को ऊगती है । तब तू मुझ से अलग होने का दुःख भूल जायगी ।

शकुन्तला—तुम्हारे इस सन्देह ने तो मुझे कँपा दिया ।

दोनों सखी—कुछ डरने की बात नहीं है, अति स्नेह में बुरी शङ्का होती ही है ।

शारङ्गद्वय—अब दिन पहर से अधिक चढ़ गया चलो बेग बिदा हो ।

शकुन्तला (आश्रम के ओर मुख कर के खड़ी होती है)—हे पिता ! तपोवन के दर्शन फिर कब कराओगे ?

कन्व—बेटी सुन—

घोषाई

(१००) बनि तिय बहुत दिवस भूपतिकी ।

सौतिनि चार कौन बसुमतिकी ॥

करिके ब्याह सुवन समरथ कौ ।

मारग रुके न जाके रथ कौ ॥

दैके ताहि कुटम कौ भारा ।

तजि के राजकाज व्यवहारा ॥

पति तेरो तुहि सङ्ग लै ऐहै ।

या आश्रम तब तू पग दैहै ॥

गौतमी—बेटी अब चलने का मुहूर्त्त बीता जाता है, पिता को जाने दे । मुनि जी ! तुम जाओ, यह तो बेर बेर ऐसे ही कहती रहेगी ।

कन्व—हे बेटी ! मेरे तप के काम में विघ्न पड़ना है ।

(१००) पृथ्वी भी राजा की पत्नी होती है, इसलिये महर्षि कहते हैं कि, हे बेटी जब तू बहुत दिन तक राजा की रानी अर्थात् पृथ्वी की सौत बन कर रह लेगी और अपने शूरवीर बेटे का जिसके रथ का कोई रोकने वाला न होगा, व्याह कर लेगी । तब तेरा भरता बेटे को राज सौंप कर तुझ सहित इस आश्रम में आवेगा ।

शकुन्तला (पिता से फिर मिल कर)—हे पिता ! मेरे लिये बहुत शोक मत करना ; क्योंकि तुम्हारा तपस्या से पिण्डित दुर्बल शरीर है ।

कन्व (गहरी श्वास लेकर)—

दोहा

(१०१) तैं आगे बोये सुता, पूजा हित नीवार ।
 सो उपजे हैं आय ये, परणकुटी के द्वार ॥
 इन्हें लखत कैसे सकूँ, अनो बिथा मिटाय ।
 तो बिछुन ते जो भई, मेरे हिय में आय ॥

अब जा, तेरा मारग सुखकारी हो ।

[शकुन्तला साथियों समेत चळती है

दोनों सखी (शकुन्तला की ओर देखकर)—हाय हाय अब बन के वृत्तों ने शकुन्तला को दुरालिया ।

कन्व (श्वास लेकर)—हे अनसूया ! तुम्हारी सहेली गई, अब तुम शोक छोड़ मेरे पीछे पीछे चलो आओ ।

दोनों सखी—हे पिता ! शकुन्तला बिना तौ तपोवन सूना सा लगता है, हम इसमें कैसे चलें ?

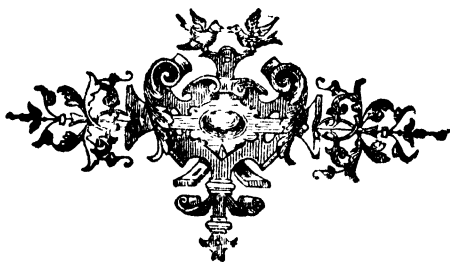
कन्व—ठीक है, प्रीति में ऐसा ही दीखाता है । (ध्यान करता हुआ)
 शकुन्तला को सुनराल भेजकर अब मैं निश्चिन्त हुआ ।

(१०१) हे बेटी ! जब तक कुटी के द्वार पर तेरे बाए हुए धान खड़े हैं, इन्हें देख देख मेरा शोक क्योंकर शान्त होगा ?

सोरठा

(१०२) पर घर कौ धन धीय, पटै ताहि घर पीय के ।
आज बिमल मम हीय, फेरि धरोहरि जिमि दर्ई ॥

चौथा अङ्क समाप्त हुआ ।



(१०२) बेटी पराए घर का धन कहलाती है । सा आज शकुन्तला को सुसराह भेज कर मैं ऐसे निश्चिन्त हुआ हूँ ; जैसे कोई किसी की धरोहर फेर कर होता है ।

अंक (५)

स्थान राजभवन

(राजा आसन पर बैठा है, माढव्य पास खड़ा है)

माढव्य (कान लगा कर)—मित्र सङ्गोतशाला की ओर कान लगाओ। देखो, कैसा मधुर आलाप सुनाई देता है। मेरे जाने तो रानी हंसपदिका गाने का अभ्यास कर रही है।

दुष्यन्त—अरे चुप रह सुनने दे।

(नेपथ्य में राग होता है)

कालंगड़ा इकताला

(१०३) भ्रमर तुम मधु के चाखनहार।

आम की रसभरी मृदुल मंजरी तासों प्रीति अपार ॥

रहसि रहसि नित रस लैवे कों धावत है करि नेम।

क्यों कल आई कमल बसेरें कित भूले प्यारी कौ प्रेम।

दुष्यन्त—अहा ! कैसा प्रीति उपजाने वाला गीत है।

माढव्य—तुमने इन पदों का अर्थ भी समझा ?

दुष्यन्त (मुसका कर)—हाँ समझा ! पहले मैं रानी हंसपदिका पै आसक्त था। अब वसुमती में मेरा स्नेह है। इसलिये मुझे उलहना देनी हैं। मित्र माढव्य ! तू जा, हमारी ओर से रानी हंसपदिका से कह दे कि, हे रानी ! हम इसी उलाहने के योग्य हैं।

(१०३) हे नये मधु के लोभी भौर ! तू तौ आम की मंजरी को नित चुम्बन करने आता था, अब कमल में बसते ही क्यों उसे ऐसा भूल गया ?

मादव्य—जो आज्ञा महाराज की। (उठता है) हे मित्र! जैसे
अप्सरा के हाथ से तपस्वी का छुटकारा नहीं होता,
आज्ञा मेरा भी न बनेगा, वह रानी चोटो पकड़वा कर
मुझे पराए हाथों से पिटवाएगी।

दुष्यन्त—जा, चतुराई की रीति से उसे समझा देना।

मादव्य—जाने क्या गति होगी।

[जाता है]

दुष्यन्त (आप ही आप)—यद्यपि मुझे किसी स्नेही का वियोग
नहीं है, तो भी गीत के सुनते ही चित्त को आप से आप
उदासी हो आई है। इसका क्या हेतु है? यह हो तो
हो कि—

दोहा

(१०४) लखि के सुन्दर बन्तु अरु, मधुर गीत सुनि कोइ ।
सुखिया जनहू के हिये, उत्कण्ठा यदि होइ ॥
कारन ताका जानिये, सुधि प्रगटी है आय ।
जन्मान्तर के सखन की, जो मन रही समाय ॥

[ज्याकुल सा हो कर बैठा है]

(कंचुकी आता है)

कंचुकी—अहा ! अब मैं किस दशा को पहुँचा हूँ ।

(१०४) अच्छी वस्तु देख कर अथवा अच्छा राग सुन कर जो सुखी मनुष्य के
मन में उदासी आ जाय तो इसका कारण यह जानना चाहिये कि,
बिना जाने पूर्व जन्म के सुहृदों की सुख आई है ।

चौपाई

(१०५) रीति जानि अपनी पदवी की ।
परम्परा मानी सब ही की ॥
लकुट लई मैंने जो आगे ।
राज गेह रक्खा हित लागे ॥
तब तें काल जु बहुत बितायो ।
आय बुढ़ापो मो तन छायो ॥
डिगमिगान पग चलन दुखारो ।
यही लकुट अब देति सहारो ॥

यह तो सच है कि राजा को धर्मकाज करने ही पड़ते हैं। परन्तु महाराज धर्मासन से उठकर अभी गये हैं। इसलिये उचित नहीं है कि मैं उनसे इसी समय कहूँ कि कन्व ऋषि के चले आये हैं। क्योंकि इस संदेश से स्वामी के विश्राम में विघ्न पड़ेगा। नहीं नहीं, जिन के सिर पर प्रजापालन का बोझ है; उनको विश्राम कैसा—

दोहा

(१०६) जोरि तुरंग रथ एकदाँ, रवि न लेत विश्राम ।
तैसे ही नित पवन काँ, चलवे ही तें काम ॥

(१०५) यही लाठी जो मैंने रनवास की द्वारपाली के काम को अवश्य समझ कर ली थी, अब बहुत काल बीतने पर मुझ डिगमिगाते पैरों वाले के लिये चलने का सहारा बनी है।

(१०६) सूरज एक ही बेर रथ में घोड़े जोड़ कर चला है, तब से फिर विश्राम नहीं लिया और पवन भी सदा चलती ही रहती है, इसी भाँति शेषनाग सदा पृथ्वी का बोझ अपने ऊपर रखता है। यही रीति राजाओं की चाहिये, जो प्रजा की कमाई से छठा भाग लेते हैं।

भूमिभार सिर पै सदा, धरत शेष हू नाग ।
 यहाँ रीति राजान का, लेत छठो जो भाग ॥
 तौ अब मैं इन सँदेशों को भुगता ही दूँ (इधर उधर देख कर)
 महाराज वे बैठे हैं ।

दीहा

(१०७) पालि प्रजा सन्तान सम, यकित चित्त जब होइ ।
 दूँदूत ठाँव इकन्त नृप, जहाँ न आवे कोई ॥
 सब हाथिन गजराज ज्यों, लैके बन के माँह ।
 घाम लग्यो खोजत फिरत, दिन में शीतल छाँह ॥

[फिर जाकर

महाराज की जय हो ! हे स्वामी ! हिमालय की तराई के
 बनवासी तपस्वी, स्त्रियों सहित ; कन्व मुनि का सँदेशा लेकर
 आये हैं । उनके लिए क्या आज्ञा है ?

दुष्यन्त (आदर से)—क्या कन्व मुनि का सँदेशा लाये हैं ?

कंचुकी—हाँ प्रभू ।

दुष्यन्त—तौ सोमरात पुरोहित से कह दे कि, इन आश्रम
 धानियों को वेद की विधि से सत्कार करके, अपने
 साथ लावें । मैं भी तब तक तपस्वियों से भेटने योग्य
 स्थान में बैठता हूँ ।

कंचुकी—जो आज्ञा ।

[बाहर जाता है

दुष्यन्त (उठ कर)—हे प्रतीहारी ! अग्नि स्थान की गैल बता ।

प्रतीहारी—महाराज ! महाराज यह गैल है ।

(१०८) जब प्रजा को सन्तान की भाँति रक्षा करके राजा थक जाता है, तब
 एकान्त में विश्राम लेना चाहता है । जैसे गजराज हाथियों के यूथ को
 बन में चढ़ा कर घाम का मारा दिन में ठंडी जगह ढूँढ़ता है ।

दुष्यन्त (उधर उधर फिर कर अधिकार के बोझ का दुःख दिखाता हुआ)—अपना अपना मनोरथ पाकर सब प्रसन्न हो जाते हैं ; परन्तु राजा की कृतार्थता निरी क्लेश की भरो होती है ।

दोहा

(१६८) हाथ मनोरथ के लगे, अभिलाषा भरि जाति ।
हाथ लगे कौ राखिवो, करत खेद दिन राति ॥
नृपता हू यों जानिये, ज्यों छत्री कर माहि ।
देति कष्ट पहले इतो, जेतो मेटति नाहि ॥

(नेपथ्य में)

दो ढाड़ी—महाराज की जय रहे ।

पहला ढाड़ी—

कहना

(१०६) निज कारण दुःख ना सहो, सहो पराए काज ।
राजकुलन व्यवहार यह, सो पालहु महाराज ॥
अपने सिर पै लेत हैं, वर्षा शीत रु घाम ।
जिमि तरवर हित पथिक के, निज तर दै विश्राम ॥

(१०८) राज मिल जाने से मन की अभिलाषा तौ पूरी हो जाती है ; परन्तु राज का पालना दुःख देता है । क्योंकि राजा पदवी ऐसी है ; जैसे छतरी की । उस का बोझ थामने में पहिले तो कष्ट होता है, किन्तु फिर पीछे धूप दूर होने से कुछ सुख मिलता है ।

(१०९) हे राजा ! तुम लोक के हित नित्य दुःख सहते हो ; सो तुम्हारा धर्म ही है । जैसे वृक्ष औरों को छाया का सुख देकर भाप मेह, धूप और शीत सहते हैं ।

दूसरा ढाड़ी—

छापय

(११०) दुष्ट जनन वश करन लेत जब दंड प्रचंडहि ।
 देत दंड उन नरन चलत मर्याद जो छंडहि ॥
 करत प्रजा प्रतिपाल कलह के मूल त्रिनाशहि ।
 जिहि निमित्त नृप जन्म धर्म सब करत प्रकाशहि ॥
 महाराज दुष्यन्त जू चिरजीवो नित नवल वय ।
 भेटि बिघ्न उत्पात सब प्रजहि करि राखे अभय ॥

दोहा

धन वैभव तो और हू, बहुत क्षत्रियन माहिं ।
 पै सुप्रजा हित तुमहिं मैं, अधिक भेद कुछ नाहिं ॥

सोरठा

राखत बन्धु समान, याही तैं तुम सबन को ।
 करत मान सन्मान, दुःख न काहू देत हो ॥

दुष्यन्त—इन्होंने तौ मेरे मन मलीन मन को फिर हरा कर दिया ।

[इधर उधर फिरता है]

प्रतीहारी—महाराज ! अग्निशाला की छत लिपी पुती खच्छ पड़ी
 है और निकट ही होमधेनु बँधी है, वहीं चलिये ।

(११०) जब तुम हाथ में दण्ड लते हो तौ कुमार्गियों को नीति की रीति
 सिखाते हो । प्रजा के झगड़े टंटों को मिटाते हो । जिस लिये राजा
 का जन्म है सो तुम सब करते हो । इससे तुम सदा प्रजा को सुख
 देते रहो । धन वैभव तौ ओर भी राजाओं में हैं । परन्तु प्रजाहित
 तुम्हों में अधिक है । इसीसे तुम सब को भाई बन्धु के समान
 रखते और सन्मान करते हो । किसी को दुःख नहीं दते ।

दृश्यन्त (सेवकों के कन्धे पर सहारा लेता हुआ छत पर चढ़ कर बैठा है)—हे प्रतिहारी कन्व मुनि ने किस निमित्त हमारे पास ऋषि भेजे हैं ?

(१११)—सवैया

तपसीन के कारज माहिं किधों अब आय बड़े काइ विघ्न पखो ।
बनचारी किधों पशु पक्षिन में काहु दुष्ट नयो उत्पात कखो ॥
फल फूलिवो बेलि लता बन कौ मति मेरे ही कर्मन तें बिगखो ।
इतने मुहि घेरि सँदेह रहे इन धीरज मेरे हिये को हखो ॥
प्रतिहारी—मेरे जाने ती ये तपस्वी महाराज के सुकर्मों से प्रसन्न होकर धन्यवाद देने आए हैं ।

(शकुन्तला को साथ लिए हुए गौतमी सहित मुनि आते हैं और कंचुकी और परोहित उन से आगे हैं)

द्वारपाल—इधर आओ, महात्माओ ! इस मार्ग आओ ।

शारङ्गरव—हे शारद्वत—

चौपाई

(११२) यद्यपि भूप यह है बड़ भागी ।

थिर मर्याद धर्म अनुरागी ॥

(१११) क्या तपस्वियों के धर्मकाजों में कुछ विघ्न पड़ा अथवा किसी दुष्ट ने आश्रम के जीवों को सताया अथवा मेरे पापों से लता वृक्षों का फलना फूलना रुक गया ; जिससे ये तपस्वी रक्षा माँगने आए हैं । इन सन्देहों से मेरे मन में बड़ी दुविधा है ।

(११२) यह बड़ा प्रतापी राजा है, कभी मर्यादा से नहीं ढिगता और न इसकी प्रजा में कोई नीच वर्ण भी कुमार्ग चलता है, यह सब तो है परन्तु मुझे एकान्त में रहने का अभ्यास है । इसलिये मनुष्यों से भरा हुआ राज आँगन मुझे ऐसा लगता है जैसे आग का भरा हुआ घर ।

जासु प्रजा में नीचहु कोई ।
 कुमति कुमारग लीन न होई ॥
 पैं मै तौ नित रह्यो अकेलो ।
 यातैं नहिं सुहात सहेलो ॥
 मनुष भख्यो मुहि यह नृप द्वारा ।
 दीखत जिमि घर जरत अंगारा ॥

शारद्वत—सत्य है, जब से नगर में धसे हैं यही दशा मेरी भी हो गई है ।

दोहा

(११३) इन सुख लोभी जनन मैं, देखत हूँ यह भाय ।
 न्हायो धोयो लखतु ज्यों, मैले कों दुख पाय ॥
 अथवा शुद्ध अशुद्ध कों, सोवत कों जागंत ।
 बँधुमा कों जैसे लखत, कोई मनुष सुतंत ॥

शकुन्तला (अशगुन देख कर)—हाय ! मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़कती है ?

गौतमी—दैव कुशल करेगा, तेरे भरता के कुलदेव अमङ्गलों को मेटि तुझे सुख देंगे ।

पुरोहित (राजा को बताकर)—हे तपस्वियो ! वणाश्रम के प्रतिपाल श्री महाराज आसन से उठ कर तुम्हारी बाट हेरते हैं, इनकी ओर देखो ।

शारङ्गारव—हे ब्राह्मण ! यह तौ बड़ी बड़ाई की बात है ; परन्तु हम से पूछो तो यह इन का धर्म ही है ।

(११४) ये सुख हूँ देने वाले लोगों को हम ऐसे देखते हैं जैसे किसी न्हाये धोये को कोई मैला कुचैला अथवा शुद्ध को अशुद्ध अथवा जागते हुए को सोता हुआ अथवा सुले हुए को बँधुआ ।

दीहा

(११४) फल आए तरवर भुके, भुक्त मेघ जल लाय ।

विभो पाय सज्जन भुके, यह परकाजि सुभाय ॥

प्रतिहारी—महाराज ! ये ऋषि लोग प्रसन्न मुख दीखते हैं; इससे

मैं जानता हूँ कि कोई कष्ट का काम नहीं लाय ।

दुष्यन्त (शकुन्तला की ओर देख कर)—तौ यह भगवती कौन हैं ?

दीहा

(११५) घूँघट पट का ओट दै, को ठाड़ा यह बाल ।

पूरो दीठ परे नहीं, जाको रूप रसाल ॥

यह तपस्विन के बीच में, ऐसी परति लखाय ।

नई मने कोपल नई, पीरे पातन छाये ॥

प्रतिहारी—महाराज ! इसका वृत्तान्त जानने को तौ मेरा जी भी

बहुत चाहता है; परन्तु मेरी बुद्धि काम नहीं करती ।

हाँ इतना तौ कहूँगा कि इस भगवती का रूप दर्शन योग्य है ।

दुष्यन्त—रहने दे, पराई स्त्री को देखना अच्छा नहीं ।

(११४) फल लगने पर वृक्ष झुकता है, पानी लाकर बादल झुकता है और वैभव पाकर सज्जन झुकता है, परकाजियों का बहुधा यही स्वभाव होता है ।

(११५) अंचल से मुँह छुपाए हुए यह कौन खड़ी है ? जिसकी पूरी सुन्दरता दिखलाई नहीं देती । तपस्वियों से घिरी हुई ऐसी लगती है. जैसे पुराने पत्तों से ढकी हुई नई कोंपल ।

शकुन्तला (आप आप, अपने हृदय पर हाथ रख कर)—हे हृदय !
ऐसा क्यों डरता है ? आर्य्यपुत्र के प्रेम की सुध कर के
धीरज धर ।

पुरोहित (भागे जा कर)—महाराज ! इन तपस्त्रियों का आदर
सत्कार विधिपूर्वक हो चुका । अब ये अपने गुरु का
कुछ सँदेशा लाए हैं, सो सुन लीजिये ।

दुष्यन्त—(आदर से)—सुनता हूँ, कहने दो ।

दीनों ऋषि (हाथ उठा रक)—महाराज की जय रहे !

दुष्यन्त—तुम सब को प्रणाम करता हूँ ।

दीनों ऋषि—आपके मनोरथ सिद्ध हों !

दुष्यन्त—मुनियों का तप तौ निरबिघ्न होता है ?

शारङ्गरव—

दाहा

(११६) जब लग रखवारे बने, तुम जग में महाराज ।

क्यों बिगरेँगे मुनिन के, धर्म परायण काज ॥

ज्योति दिवाकर की रहे, जौ लौं मंडल छाये ।

अन्धकार नहिं है सकै, प्रगट भूमि पै आय ॥

दुष्यन्त—तौ अब मेरा राजा शब्द यथार्थ हुआ । कहो लोकहित-
कारी कन्व मुनि प्रसन्न हैं ?

शारङ्गरव—महाराज ! कुशल तौ तपस्त्रियों के सदा आधीन ही
रहती है । गुरु जी ने आप की अनामय पूछ कर यह
कहा है ।

(११६) जब तक तुम इस पृथ्वी के रखवाले बने हो, तब तक तपस्त्रियों के
कामों में कुछ बिघ्न नहीं हो सकता । जैसे सूरज के रहते अन्धकार
भूमण्डल पर नहीं आ सकता ।

दुष्यन्त—क्या आज्ञा की है ?

शारङ्गरव—कि तुम ने मेरी इस कन्या का गान्धर्व रीति से
व्याहिर लिया, सो व्याहिर मैंने प्रसन्नता से मङ्गीकार
किया, क्योंकि—

दोहा

(११७) तुम्हें मुख्य सज्जनन में, हम जानत हैं भूप ।
शकुन्तला हूँ मैं निरी, सनकिरिया कै रूप ॥
ऐसे सम गुण वरबधू, बिधि ने दुहू मिलाय ।
बहुत दिनन पाछें लियो, अपनो दोष मिटाय ॥

अब इस गर्भवती को धर्म्माचरण निमित्त लीजिये ।

गौतमी—हे राजा ! मैं भी कुछ कहा चाहती हूँ. परन्तु कहने का
अवकाश अभी नहीं मिला ।

सोरठा

(११८) पूछे याने नाहिं, गुरुजन तुमहु न बन्धुजन ।
या कारज के माहिं, करो परस्पर बात अब ॥

शकुन्तला—(आप ही आप)—देखूँ, अब आर्य्यपुत्र क्या कहते हैं ?
दुष्यन्त यह क्या स्वांग है ?

(११७) ब्रह्मा को दोष लग रहा है कि अनमिल जोड़ी मिलाता है ; परन्तु
दुष्यन्त और शकुन्तला की समान गुण जोरी मिला कर उसने अपना
यह दोष बहुत दिन पीछे मिटा दिया ।

(११८) आपस में तुम दोनों ने व्याहिर कर लिया, न तुमने अपने भाई बन्धु
पूछे, न इसने अपने बड़े बूढ़े, अब आपस में बात चीत करो ।

शकुन्तला (आप ही आप)—हे दर्द ! राजा का यह वचन तो निरा
भङ्गि ही है ।

शारङ्गरव—हैं, यह क्या ? हे राजा ! तुम तो लोकाचार की बातें
जानते हो ।

दोहा

(११६) जाय सुहागिनि बसति जो, अपने पीहर धाम ।
लोग बुरी शङ्का करें, यदपि सती हूँ बाम ॥
यातें चाहत बन्धुजन, रहे सदा पतिगेह ।
प्रमुदा नारि सुलच्छिनी, बिनहु पिया के नेह ॥

दुष्यन्त—क्या मेरा इस भगवती से कभी व्याह हुआ था ?

शकुन्तला (उदास हो कर आप ही आप)—अरे मन ! जो तुझे डर
था, सोई आगे आया ।

शारङ्गरव—क्या अपने किये में, अरुचि होने से धर्म छोड़ना
राजा को योग्य है ?

दुष्यन्त—यह झूठी कल्पना का प्रश्न क्यों करते हो ?

शारङ्गरव (क्रोध से)—जिनको ऐश्वर्य्य का मद होता है, उनका
चित्त स्थिर नहीं रहता ।

दुष्यन्त—यह कठोर वचन तुमने मेरे ही लिये कहा ।

(११९) जब सुहागिनी स्त्री अपने पीहर में जाकर रहती है तो वह कैसी ही
पतिव्रता हो लोग बुरी शङ्का करते ही हैं । इसलिये स्त्री के भाई बन्धु
यही चाहते हैं कि जवान स्त्री अपने पति के घर रहे तो भली । चाहे
पति का प्यार हो चाहे न हो ।

गौतमी (शकुन्तला से)—हे पुत्री ! अब थोड़ी बेर को लाज छोड़ दे । ला मैं तेरा घूँघट खोल दूँ, जिससे तेरा भरता तुझे पहचान ले ।

[घूँघट खोलती है]

दुष्यन्त—(शकुन्तला को देख कर आप ही आप)—

देहा

(१२०) बरी की कबहूँ ना बरी पगी हिये उरझेट ।
ठाड़ी रूप ललाम लै, सन्मुख मेरे भेट ॥
सकत न याकौ लेन सुख, नहिं मैं त्यागि सुकाय ।
ओस भरे सद कुन्द कों, जैसे मधुकर प्रात ॥

[सोचता हुआ बैठा है]

प्रतिहारी (दुष्यन्त से)—महाराज तौ अपने धर्म में सावधान हैं । नहीं तौ सन्मुख आप ऐसे स्त्रीरत्न को देख कौन सोच विचार करता है ?

शारङ्गरव—हे राजा ! ऐसे चुपके क्यों हो रहे हो ?

दुष्यन्त—हे तपस्वियो ! मैं बार बार सुध करता हूँ ; परन्तु स्मरण नहीं होता कि इस गर्भवती से कभी मेरा विवाह हुआ और जब इस गर्भवती के लेने से मुझे क्षेत्री* कहलाने का डर है, तो क्यों कर इसे स्वीकार कर सकता हूँ ।

(१२०) मेरे मन में यही शङ्का है कि इस रूपवती से कभी मेरा ब्याह हुआ कि नहीं हुआ । इस सन्देह में न तो इसे छोड़ सकता हूँ न ले सकता हूँ । जैसे प्रातःकाल ओस भरे हुए कुन्द के फूल को न तौ भीरा छोड़ सकता है न उसका रस ले सकता है ।

* जिस मनुष्य की स्त्री दूसरे पुरुष से गर्भवती हो वह क्षेत्री कहलाता है ।

शकुन्तला—(आप ही आप)—हे दैव ! जो मेरे सङ्ग व्याह ही में सन्देह है, तौ अब मेरी बहुत दिन की लगी आशा टूटी ।

शारङ्गरव—ऐसा मत कहा ।

चौपाई

(१२१) जासु सुता नृप तैं छलि लीनी ।
 यह अनीति जाके संग कीनी ॥
 जाने तदपि बुरो नहि मान्यो ।
 व्याह तुम्हारो शुद्ध प्रमान्यो ॥
 चुरी वस्तु दैके त्रिमि कोई ।
 चोरहि शाह बनावत होई ॥
 सो न जोग अपमान मुनीशा ।
 देखि विचारि तुही छिति ईशा ॥

शारद्वत—शारङ्गरव अब तुम ठैरो । हे शकुन्तला ! हम को जो कुछ कहना था कह चुके और उत्तर भी सुन लिया । अब तू कुछ कह जिससे इसे प्रतीत हो ।

शकुन्तला—(आपही आप)—जो वह स्नेह ही न रहा तौ अब सुध दिलाने से क्या प्रयोजन ? अब तौ मुझे लोक के अपवाद से बचने की चिन्ता है । (प्रगट) हे आर्यपुत्र ! (आधा कह कर रुक जाती है) और जो व्याह ही में सन्देह है तो यह बात अनुचित है । हे पुरुवंशी ! तुम

(१२१) हे राजा ! जिस मुनि की कन्या को तुमने छल कर दूषित किया और जिसने कुछ बुरा न मान कर वही कन्या तुम्हारी व्याहता स्वीकार कर ली और तुम्हारे पास ऐसे भेज दी जैसे कोई चोरी की वस्तु पाकर फिर वही वस्तु चोर को साह बनाने के लिये उसे दे देता है, सो क्या ऐसे अपमान के योग्य वे मुनि हैं, जैसा तुम उनके साथ करते हो ?

का योग्य नहीं है कि, आगे तपोवन में मुझ सीधे स्वभाव वाली को प्रतिज्ञाओं से फुसला कर अब ऐसे निष्ठुर वचन कहते हो ।

दुष्यन्त (कान पर हाथ रख कर)—पाप से भगवान् बचावे ।

देहा

(१२२) क्यों चाहति तू पदमिनी, करन पातकी मोहि ।

अरु दूषित मम वंश को, मैं पूछत हों तोहि ॥

नरिता निज तट तोरि जो, रुखन लेति खसाय ।

नोर बिगारति आपनो, शोभा देति नसाय ॥

शकुन्तला—जो तुम भूल कर सत्य ही मुझे परनारी समझे हो,
तौ लो पते के लिये तुम्हारे ही हाथ की मुँदरी देती
हूँ जिससे तुम्हारी शंका मिट जायगी ।

दुष्यन्त—अच्छी बात बनाई ।

शकुन्तला (अंगुली देख कर) हाय हाय मुँदरी कहाँ गई ?

[बड़ी व्याकुलता से गौतमी की ओर देखती है]

गौतमी—जब तैने शकावतार के निकट सची तीर्थ में जल आब-
मन किया था, तब मुँदरी गिर गई होगी ।

दुष्यन्त (मुसका कर)—स्त्री का तत्काल बुद्धि यही कहलाती है ।

शकुन्तला—यह तौ बिघाता ने अपना बल दिखाया, परन्तु अभी
एक पता और भी दूँगी ।

(१२२) हे भगवती ! तू मुझे कलंकी और मेरे कुल को दूषित करना क्यों
चाहती है, देख, जो नदी मरजाद छोड़ अपना तट खसाती है और
निकट के रुखों को गिराती है वह अपना ही पानी गदला करती है ;
और अपनी ही शोभा बिगाड़ती है ।

दुष्यन्त—सो भी कह दं मैं सुनूँगा ।

शकुन्तला—उस दिन की सुध है ? जब माधवी कुछ में तुमने कमल के पत्ते में जल अपने हाथ से लिया था ।

दुष्यन्त—तब क्या हुआ ?

शकुन्तला—उसी दिन पाला हुआ दीर्घा पाँग नाम मृगछोना आ गया, तुमने बड़े प्यार से कहा—आ छोने, पहले तूही पीले । उसने तुम्हें विदेशी जान तुम्हारे हाथ से जल न पिया । फिर उसी पत्तों में मैंने पिलाया तौ पी लिया । तब तुमने हँस कर कहा था कि, सब कोई अपने ही सहवाली का पत्याता है, तुम दोनों एक ही वन के बासी हो ।

दुष्यन्त—अपना प्रयोजन साधने बालियों की ऐसी मोठी झूठी बातों से तौ कामीजनों के मन डिगते हैं ।

गौतमी—असुराजा ! ऐसा वचन मत कहो । यह कन्या तपोवन में पली है, छल छिद्र क्या जाने ?

दुष्यन्त—हे वृद्ध तपस्विनी ! सुनो—

देहा

(१२३) बिना सिखाई चतुराई, तिरियन की विख्यात ।
पशु पंछिन हूँ मैं लखी, मनुष्यन की कहा बात ॥
लेति पखेरु आन तें, कोइलिया पलवाय ।
तब लग अपने चेंदुअन जब लग उड्यो न जाय ॥

(१२३) स्त्री जाति में स्वभाव ही से बहुत चतुराई होती है, जैसे कोयल को देखा कि, जब तक बच्चे उड़ने योग्य न हों तब तक उन्हें और ही पंछियों से पलवाती है ।

शकुन्तला—(क्रोध कर के)—हे अनारो ! तू अपना सा कुटिल हृदय सब का जानता है ? तुझसा छलिया कौन होगा, जो घास फूस से ढके हुए कुए की भाँति धर्म का भेष रखता है ।

दुष्यन्त (आप ही आप)—इस का कोप बनाघट का सा नहीं दीखता और इसी से मेरे मन में सन्देह उपजता है, क्योंकि—

देहा

(१२४) बिनु सुधि आप बिथित चित, मैं जु कष्टो बहु बार ।
मेरो तेरो न भयौ, कहूँ इकन्त में प्यार ॥
तब अति राते दूगन पै, लीनी भोंह चढ़ाय ।
तोसो चाप मनेज की, मनहु कोप में माय ॥

पुरोहित—हे भगवती ! दुष्यन्त के सब काम प्रासिद्ध हैं, परन्तु यह हमने कभी नहीं सुना कि व्याह इन के साथ हुआ ।

[मुख पर अँचल डाल रोती है]

शकुन्तला—मुँह में खाड़ पेट में विष, ऐसे इस पुरुवंशी के फन्दे में फँस कर, अब मैं निर्लज्ज कहलाई सो ठीक है ।

(१२४) जब मुझे उसके साथ व्याह होने की सुध न आई और मैंने बार बार कहा कि मेरा तेरा एकान्त में कभी प्रीति व्यवहार नहीं हुआ, तब उसने क्रोध में अपनी लाल आँखों पै भोंह चढ़ा कर ऐसी मरोड़ी मानो कामदेव के धनुष को तोड़ कर दो टुकड़े कर दिये ।

शारङ्गारव—जो काम बिना बिचारे किया जाय इसी भाँति दुख देता है। इसी से कहा है कि—

दाहा

(१२५) बिन परखे करिये नहीं, कहूँ इकन्त सम्बन्ध ।
ऐसे कारज के विषय, निरे न बनिये मन्ध ॥
अनजाने मन के परम, जुरति कहूँ जो प्रीति ।
पलटि बैरि बनि जाति फिर, पाऊँ याही रीति ॥

दृष्यन्त—क्या तुम इसी का बातों का प्रतीति करके मुझे इतने दोष लगाते हो ?

शारङ्गारव (अवज्ञा करके)—क्या तुमने यह उलटा वेद नहीं सुना ?

दाहा

(१२६) जन्महिं ते जाने नहीं, जानी छल की रीति ।
ताके बचनन की कछु, करिये नहीं प्रतीति ॥
मानि लीजिये उनहि का, सतबादी विद्वान ।
विद्या लों सीख्यो भलो, जिन परबञ्चन बान ॥

दृष्यन्त—हे सत्यवादी ! भला यह भी माना कि हमने दूसरों का छलना विद्या की भाँति सीखा है। परन्तु कहा नौ, इस भगवती के छलने से मुझे क्या मिलेगा ?

(१२७) जाँचे परखे बिना एकान्त में कभी किसी से सम्बन्ध न करना चाहिये
क्योंकि एक दूसरे का स्वभाव जाने बिना जो प्रीति हो जाती है वह
पीछे बैर ही बनती है ।

(१२८) जिसने जन्म से छल का नाम भी नहीं जाना उसकी न बात मानो और
जिन्होंने दूसरों को छलना विद्या की भाँति सीखा है, उन्हें सच्चा जानो ।

शारङ्गद्वय—भारी विपत्ति ।

दुष्यन्त—नहीं नहीं, यह बात प्रतीति न को जायगी कि पुरुवंशी,
अपने वा पराये के लिये विपत्ति माँगते हैं ।

शारङ्गद्वय—हे शारङ्गद्वय ! इस बात से क्या अर्थ निकलेगा ? हम तो
गुरु का सँदेश लाए थे सो भुगत चुके, अब चलो ।

[राजा की ओर देख कर

देहा

(१२७) यह तेरी नारी नृपति, तू याके भरतार ।

राखन छोड़न की सबै, तेहो की अधिकार ॥

आओ गौतमी ! आगे चलो ।

[दोनों मिश्र और गौतमी जाते हैं

शकुन्तला—हाय ! इस छलिया ने तो त्यागी । अब क्या तुम भी
दुखिया को छोड़ जाओगे ।

[उनके पीछे चलती है

गौतमी (खड़ी हो कर)—बेटा शारङ्गद्वय ! शकुन्तला तो यह पीछे
पीछे रोती आती है, अभागी को निरमोही पति ने छोड़
दिया, अब क्या करें ?

शारङ्गद्वय (क्रोध कर के शकुन्तला से)—हे कर्महीन ! तू क्या स्वतंत्र
हुआ चाहती है ।

[शकुन्तला थरथराती है

(१२७) हे राजा ! यह तेरी स्त्री है और तू इसका पति है. अब इसे रखने न
रखने को तुझ को अधिकार है ।

शारङ्गरव—

चौपाई

(१२८) है जो शकुन्तला तू ऐसी ।
 नरपति तोहि बतावत जैसी ॥
 तौ जग में तू पतित कहावे ।
 पिता गेह आवन क्यों पावे ॥
 अरु जानति है जौ मन माहीं ।
 दोष कियो मैंने कछु नाहीं ॥
 तौ यहि रहति लगै तू नीकी ।
 दासी हू बनि के निज पीकी ॥

अब तू यहीं ठैर, हम आश्रम का जात है ।

दुष्यन्त—हे तपस्वियो ! क्यों इसे धोखा देने हो । देखो —

द्रोहा

(१२९) चन्द जगावतु कुमुदनी, पद्मिनिही दिननाथ ।
 जती पुरुष कहूँ ना गहँ, परनारी कौ हाथ ॥

शारङ्गरव—सत्य है ; परन्तु तुम ऐसे हो कि दूसरी का संग पाकर
 अपने पहले किये को भूलने हो, फिर अधर्म से
 डरना कैसा ?

दुष्यन्त (पुरोहित से)—मैं तुमसे इस विषय में यह पूँछता हूँ—

(१२८) हे शकुन्तला ! जा तू ऐसी है जैसे को राजा बतलाता है, तौ तू दूषित
 हो कर पिता के घर क्यों आने पावंगी और जो तू अपने मन से सबी
 है तौ तुझे पति की दासी बन कर भी यहाँ रहना अच्छा है ।

(१२९) चन्द्रमा कमोदिनी को ही मिलता है और सूरज कमलनी ही को,
 जितेन्द्री पुरुषों की रीति नहीं है कि, दूसरे की स्त्री को तर्कें ।

देहा

(१३०) कै मैं ही बैरी भयो, कै भूठी यह नारि ।
ऐसे संशय के विषय, तुम कछु कहो बिचारि ॥
किधों दारत्यागी बनूँ, करि याको अपकार ॥
कै परनारी परस कै, जेहुँ दोष सिरभार ॥

पुरोहित (सोच कर)—अब तो यह करना चाहिये ।

दुष्यन्त—क्या करना चाहिये, सो कृपा करके कहो ?

पुरोहित—जब तक इस भगवती के बालक का जन्म हो ; तब तक यह मेरे घर रहे ; क्योंकि अच्छे अच्छे ज्योतिषियों ने आगे ही कह रक्खा है कि, आप के चक्रवर्ती पुत्र होगा । सो कदाचित इस मुनि कन्या के ऐसा ही पुत्र हो जिसके लक्षण चक्रवर्ती के से पाये जाय, तो इसे आदर से रनवास में लेना और न हो तो अपने पिता के आश्रम को चलो जायगी ।

दुष्यन्त —जो तुम बड़ों को अच्छा लगे सो करो ।

पुरोहित (शकुन्तला से)—आ पुत्री ! मेरे पीछे चली आ ।

शकुन्तला—हे धरती ! तू मुझे ठौर दे, मैं समा जाऊँ ।

(१३०) न जानू मैं ही भूल गया हूँ अथवा यही झूठ कहती है । इस सन्देह में पुरोहित ! तुम कहो दोनों पापों में कौन सा बड़ा है ? अपनी स्त्री को त्यागना अथवा पराई को ग्रहण करना ।

(रोती हुई पुरोहित के पीछे पीछे तपस्त्रियों सहित जाती है और राजा गाप के बश भूला हुआ भी शकुन्तला ही का ध्यान करता है)

(नेपथ्य में—) बड़ा अचम्भा हुआ !

दुष्यन्त— (कान लगा कर)—क्या हुआ ?

(पुरोहित आता है)

पुरोहित—(आश्चर्य करके)—महाराज ! बड़ी अद्भुत बात हुई :

दुष्यन्त—क्या हुआ ?

पुरोहित—जब यहाँ से ऋन्ध के चेलों की पीठ फिरी—

दीहा

(१३१) निन्दा अपने भागि की, चली करति वह तीय ।

रोई बाँह पसारि के, भई विथित मति हीय ॥

दुष्यन्त—तब क्या हुआ ?

पुरोहित—

दीहा

तब अप्सर तीरथ निकट, जानि कित तेँ आय ।

ज्योति एक त्रिय रूप में, लैगई वाहि उडाय ॥

[सब आश्चर्य करते हैं]

दुष्यन्त—मुझे जो बात पहले भास गई थी, सोई हुई, अब इसमें तर्क करना निष्फल है । तुम जाओ विश्राम करो ।

पुरोहित—महाराज की जय रहे ।

[बाहर जाता है]

(१३१) जब वह अपने भाग्य को बुरा कहती हुई चली और व्याकुल हो कर हाथ पसार रोई तब अप्सरा तीर्थ के पास किसी ओर से एक ज्योति स्त्री रूप में आकर उसे उड़ा ले गयी ।

दुष्यन्त—हे वेत्रवती ! मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है, तू मुझे
शयन स्थान की गैल बता ।

प्रतीहारी—महाराज ! इस मार्ग आइये ।

दुष्यन्त (चलता हुआ आप ही आप)—

दोहा

(१३२) बिन आप सुधि व्याह की, मैं त्यागी मुनि धीय ।

पै हीयो मेरो कहत, वह साँची है तीय ॥

[स्व जाते हैं]

पाँचवाँ अङ्क समाप्त हुआ



(१३२) यद्यपि सुख न आने से मैंने उस मुनिसुता को स्वीकार नहीं किया ;
परन्तु मेरा हृदय कहता है कि उसका कहना सच्चा होगा ।

छठे अंक का प्रवेशक

स्थान एक गली

(राजा का साला कोतवाल और दो प्यादे एक मनुष्य को बाँधे हुए लाते हैं)

पहिला प्यादा (बँधुए को पीटता हुआ) अरे कुम्भिलक ! बतला तौ यह अँगूठी तेरे हाथ कहाँ लगी, इस पै तौ राजा का नाम खुदा है ।

कुम्भिलक (कँपता हुआ)—दया करो ! मैं, ऐसा अपराधी नहीं हूँ, जैसा तुम समझे हो ।

पहिला प्यादा—क्या तू कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण है कि, सुपात्र जान राजा ने अँगूठी तुझे दक्षिणा में दी हो ?

कुम्भिलक—सुनो, मैं शकावतार तीर्थ का धीवर हूँ ।

दूसरा प्यादा—अरे चोर ! हम क्या तेरी जात पाँत पूँछते हैं ?

कोतवाल—हे सूचक ! इसे अपना सब व्योरा आद्योपास्त कहने दो, बीच में रोको मत ।

दोनों प्यादे—जैसे कोतवाल जी कहते हैं वैसे हो कर रे !

कुम्भिलक—मैं तौ जाल वंसी से मछली पकड़ के अपने कुटुम्ब का पालन करता था ।

कोतवाल (हँस कर)—तेरी बहुत अच्छी आजीविका है ।

कुम्भिलक—हे स्वामी ! ऐसा मत कहो—

दोहा

(१३३) जो जाके कुल कौ धरम, सो नहि बरजन जोग ।
निन्दितहु किन होइ वह, यों भाषत हैं लोग ॥
पशु मारन दारुन करम, करत विप्र बलि काज ।
देखी जाति दयालुता, तिनहु में महाराज ॥

कातवाल—फिर क्या हुआ ?

कुम्भिलक—एक दिन एक रोहू मछली मैंने काटी, उसके पेट में यह हीरा जड़ी अँगूठी निकली, इसे बेचने को मैं दिखला रहा था ; तब तक तुमने आ थाया । यही इसका व्योरा है । अब जैसा तुम्हारे धर्म में आवे करो, चाहो मारो, चाहो छोड़ो ।

कातवाल—हे जानुक ! इसके शरीर से कच्चे मांस की बास आती हैं, इससे यह निश्चय गोह खाने वाला धीवर है ; परन्तु अँगूठी मिलने के मद्दे इससे कुछ और भी पूछ ताछ होनी चाहिये, चलो राजा के पास चलें ।

शेनों प्यादे—बहुत अच्छा । अरे गठकटे ! चल ।

[सब चलते हैं]

कातवाल—हे सूचक ! तुम दोनों नगरद्वार के सामने इसकी चौकसी करते रहो, मतवाले मत हो जाना । तब तक मैं

(१३३) जो जिसके कुल का धर्म है उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये ; चाहे भला हो चाहे बुरा, क्योंकि पशु मारना यद्यपि निर्दयपन का काम है ; तौ भी श्रीभी (वेदपाठी ब्राह्मण) दयावान हो कर भी इस काम को बलिदान के लिये करते ही हैं ।

अँगूठी मिलने का व्योरा सुना कर राजा की आज्ञा ले आऊँ ।

[कोतवाल जाता है]

दोनों प्यादे—अच्छा जाओ स्वामी को प्रसन्न करो ।

पहला प्यादा—हे जानुक ! कोतवाल जी को बड़ी बेर लगी ।

दूसरा प्यादा—राजाओं के पास अवसर ही से जाना होता है ।

पहला प्यादा (धीवर की ओर देख कर)—हे जानुक ! यह अपराधी सूली पावेगा, इसके सिर पर माला रखने को मेरे हाथ खुजाते हैं* ।

कुम्भिलक—मुझे बिना अपराध क्यों मारना चाहते हो ?

दूसरा प्यादा (देख कर)—कोतवाल जी तौ वे हाथ में पत्र लिये आते हैं । अरे कुम्भिलक ! अब तू गिद्धों का भक्षण बनेगा अथवा कुत्तों का मुख देखेगा ।

(कोतवाल आता है)

कोतवाल—हे सूचक ! इस धीवर को छोड़ दो, अँगूठी का भेद खुल गया ।

सूचक—जो आज्ञा ।

दूसरा प्यादा—यह तौ यमराज के घर से लौट आया ।

[बन्धन खोलता है]

कुम्भिलक (कोतवाल को हाथ जोड़ कर)—कहो स्वामी ! मेरी आजीविका कैसी है ?

कोतवाल—अरे महाराज की आज्ञा है कि अँगूठी का पूरा मोल तुझे मिले और कुछ और भी दिया ; सो यह ले ।

[द्रव्य देता है]

* सूली देने के समय अपराधी के गले में फूल की माला पहनाई जाती है ।

कुम्भिलक (हाथ जोड़ कर और द्रव्य ले कर)—स्वामी ने मुझ पै बड़ी दया की ।

सूचक—दया क्यों न की तुझे सूली से उतार हाथी के मस्तक पर बिठा दिया ।

जानुक—कोतवाल जी, इस पागितोषिक से जान पड़ता है कि अँगूठी बड़े मोल की होगी ।

कोतवाल—मेरे जान स्वामी ने अँगूठी का रत्न तौ बड़े मोल का नहीं माना, परन्तु उसके देखने से राजा को अपने किसी प्यारे की सुधि आ गई ; क्योंकि यद्यपि स्वामी का स्वभाव गंभीर है, तौभो अँगूठी देखते ही थोड़ी बेर तक उदास रहे ।

सूचक—तौ तुमने राजा का बड़ा काम किया ।

जानुक—यों कहो कि इस धीवर का बड़ा काम किया ।

[धीवर की ओर हर्षा से देखता है]

कुम्भिलक—रिस मत हो, अँगूठी का आधा मोल फूलमाला के पलटे तुम्हें भी दूँगा ।

जानुक—तुझे ऐसा ही चाहिये ।

कोतवाल—अरे धीवर ! अब तौ तू हमारा बड़ा प्यारा मित्र हुआ । चलो कलार की हाट में मदिरा का प्रथम प्रीति का साक्षी बनावें ।

[सब जाते हैं]

इति प्रवेशक ।

अंक (६)

स्थान राजभवन की फुलवाड़ी

(आकाश से सानुमती अप्सरा विमान में बैठी हुई जाती है)

सानुमती—जब तक सज्जनों के गहाने का समय है ; अप्सरा-तीर्थ पर हमको बारी बारी से जाना पड़ता है । इस काम से तो मैं निरचु हुई । अब चल कर उस राजर्षि का वृत्तान्त देखूँ ; क्योंकि मेनका के सम्बन्ध से शकुन्तला तो मेरा अङ्ग ही हो गई है और मेनका ही ने बेटी के काम निमित्त मुझे भेजा है । (नारों ओर देख कर) हैं ऋतोत्सव के दिनों में भी राजभवनों में क्यों उदासी सी छा रही है ? मुझे यह तो सामर्थ्य है कि बिना प्रगट हुए भी सब वृत्तान्त जान लूँ ; परन्तु सखी की आज्ञा माननी चाहिये । इसलिये इन उद्यान रत्नाने वालियों के पास ही अपनी माया के बल से अदृश्य हो कर बैठूँगी ।

[विमान से उतर कर बैठी है]

(एक घेरी आम की मञ्जरी को देखती हुई आती है और दूसरी उसके पीछे है)
पहिली घेरी—

दोहा

(१३४) सरस आम की मञ्जरी, हरित पीत कलु लाल ।
हे सर्वस्व वसन्त तू, शोभा तुही रसाल ॥

(१३४) हे आम की मञ्जरी ! तेरा रङ्ग कुछ हरा, कुछ पीला, कुछ लाल है । वसन्त को तुही जीवनमूल और तुही शोभा है । आज तेरा प्रथम दर्शन मुझे हुआ । इसलिये बिलिती करती हूँ कि तू इस ऋतु को मङ्गलकारी हूजो ।

प्रथम दरस तेरो भयो, मोहि आज ही आय ।
बिनवति हों तू हजियो, ऋतु कों मंगलदाय ॥

दूसरी—हे कोकिला ! तू आप ही आप क्या कह रही है ?

पहली—अरी मधुकरी ! आम की मंजरी देख कोकिला उन्मत्त होती ही है ।

दूसरी (प्रसन्न होकर और निकट जाकर)—क्या प्यारी बसन्त ऋतु आ गई ?

पहली—हाँ तेरे मधुर गीत गाने के दिन आ गए ।

दूसरी—हे सखी ! कामदेव की भेंट को मैं इस वृक्ष से मंजरी लूँगी । तू मुझे सहारा दे कर उचका दे ।

पहली—जो मैं सहारा दूँगी, तो भेंट के फल से भी आधा लूँगी ।

दूसरी—जो तू यह न कहती तौ क्या आधा फल न मिलता ? मुझे तुझे तौ बिधाता ने एक प्राण दो देह बनाया है । (सखी का सहारा लेकर मंजरी तोड़ती है) अहा ! ये आम की कलियाँ अभी खिली नहीं हैं, तौ भी जिस ठौर से टूटी है कैसी सुहावनी महक देती है ।

[अंजली बना कर मंजरी अर्पण करती है]

दोहा

(१३५) तोहि आम की मंजरी, अरपति हों सिर माथ ।
 महाराज कन्दर्प के, धनुष लियो जिन हाथ ॥
 तू पांचन में हूजियो, सब ते तीखो बान ।
 परदेसिन की तियन के, छेदन काज पिरान ॥

(कंचुकी आता है)

कंचुकी (रिस होकर)—हे बाउलियो ! राजा ने तौ आज्ञा दे दी है कि, अब के बरस बसन्तोरसव न होगा । फिर तुम क्यों आम की कलियों को तोड़ती हो ?

शेनों (डरती हुई)—अब तौ हमारा अपराध क्षमा करो ; हमने नहीं जाना था कि राजा ने ऐसी आज्ञा दी है ।

कंचुकी—तुम ने नहीं जाना ? बसन्त वृक्षों ने और उन में बसने वाले पक्षेसुओं ने भी तौ महाराज की आज्ञा मानी है । देखो, इसी से—

(३५) हे आम की मंजरी ! मैं तुझे कामदेव पर अर्पण करती हूँ, जिसने अभी धनुष हाथ में लिया है, सो तू उसके पाँचों बानों में सब से पैना बान पथिकजनों की स्त्रियों के हृदय छेदने को हूजो । कामदेव का नाम पंचशर अर्थात् पाँच बानों वाला कुसुमशर अर्थात् फूल के बानों वाला हैं । इन पाँच फूलों के नाम भरत ने ये लिखे हैं (१) हर्षन (२) प्रहसन (३) मोहन (४) मूर्च्छन (५) विकषन । और किसी ग्रन्थकार ने (१) अविन्द (२) अशोक (३) सरस (४) आम मंजरी (५) उत्पल । और किसीने (१) चंपक (२) आम मंजरी (३) नागकेशर (४) केतक (५) बेल, कहे हैं । गीत गोविन्द में इन के नाम ये हैं (१) बधूक (२) मधूक (३) नीलकमल (४) तिल (५) कुन्द । कामदेव का धनुष ईश के गधे का बना है और प्रत्यंचा भौरों की पंक्ति है ।

(१३६)—सवैया

यह आय घने दिन ते' हैं लगी परि देति पराग न आमकली ।
कलियाय कुरे कौ रक्षा विरुला परिलेत नहीं छबि फूलि भली ॥
रुकि कंठहि कोकिल कूक रही ऋतु यद्यपि शीत गई है चली ।
मति खैंचि निषंग ते' बान कछु डर मानि धरसो फिर काम बली ॥
दोनों—बसमें सन्देह नहीं, यह राजर्षि ऐसा ही प्रतापी है ।

पद्मिनी—अजी थोड़े ही दिन हुए हैं कि, महाराज के घरनों में उनके
साले मित्रावसु की भेजी हुई हम आई हैं और यहाँ हम
को प्रमदवन की रखवाली का काम मिला है, इसलिये
यह वृत्तान्त हमने पहले नहीं सुना था ।

कंचुकी—हुआ सो हुआ, फिर ऐसा मत करना ।

दोनों—हे सज्जन ! हमारे मन में यह जानने की लालसा है कि,
राजा ने क्यों वसन्तोरसव बरजा है । जो हम इसके
सुनने योग्य हों तो आप कृपा करके बतला दो ।

सानुमती (आप ही आप)—मनुष्य को उत्सव सदा प्यारा होता
है, इसलिये कोई बड़ा ही कारण होगा, जिससे राजा ने
ऐसी आज्ञा दी है ।

(१३६) आम की कली बहुत दिन से लग रही हैं ; परन्तु पराग नहीं । इस
भाँति कुरे का वृक्ष कल्याय तौ रहा है ; परन्तु फूलता नहीं, शिशिर ऋतु
बीत गई तौ भी कोयल के कंठ से कूक नहीं निकलती, मुझे शंका है
कि कहीं कामदेव ने डर के मारे अपना आधा निकाला हुआ बान फिर न
निषंग (तरकस) में रख लिया हो ।

कंचुकी (आप ही आप)—यह तो प्रसिद्ध बात है, इस के कह देने में क्या दोष है । (प्रगट) क्या शकुन्तला के त्याग की खबर तुम्हारे कानों तक नहीं पहुँची ?

दोनों—हाँ अँगूठी मिल जाने तक का व्योरा तो हम ने राजा के साले के मुख से सुन लिया है ।

कंचुकी—तो अब मुझे थोड़ा ही कहना रहा । सुनो, जब महाराज को अपनी अँगूठी देख कर सुघ आई, तो तुरन्त कह दिया कि शकुन्तला से एकान्त में मेरा ब्याह हुआ था और मैंने उसे बेसुधी में त्यागा । जब से यह सुघ आई है तब से स्वामी पछतावे में पड़े हैं ।

चौपाई

(१३७) सुखसामा अब कछु न सुहावे ।

मंत्रीगण न निकट नित आवे ॥

जागत जाति राति सब काटी ।

लेत करोट सेज की पाटी ॥

जब रनवास जाय बतरावे ॥

सभ्य वचन निज तियन सुनावे ॥

फिर फिर भूल करत ना मन में ।

चुप रहजात लजायो मन में ॥

सानुमती (आप ही आप)—यह बात तो मुझे प्यारी लगी ।

कंचुकी—इसी विलाप के कारण बसन्तोत्सव बरज दिया गया है ।

(१३७) आनन्द देने वाली कोई वस्तु राजा को अच्छी नहीं लगती, न अब पहले की भाँति मन्त्रियों की भीड़ प्रतिदिन पास आती है । नौद छुट गई है, सेज की पट्टियों पर करवटे लेते रात कटती है, रनवास में जा कर जो कुछ बात रानियों के साथ करते हैं ; नाम भूल कर मुख से शकुन्तला ही निकल जाता है । तब लजाकर चुप रह जाते हैं ।

दोनों—यह तो उचित ही था ।

(नेपथ्य में)—इधर आइये, इधर आइये ।

कंचुकी (कान लगा कर)—महाराज इधर ही आते हैं । जाओ, तुम अपना अपना काम देखो ।

दोनों—अच्छा ।

[दोनों जाती हैं]

(राजा विष्णुपियों के भेष में आता है और प्रतीहारी और मादव्य साथ हैं)

कंचुकी (राजा की ओर देख कर)—सत्य है, तेजस्वी पुरुष सभी अवस्था में अच्छे लगते हैं । हमारे स्वामी यद्यपि उदासी में हैं, तो भी इनका दर्शन कैसा मनोहर है ।

घनाक्षरी

(१३८) भूषण उतारे साज मण्डन के दूर डारे कङ्कन ही एक हाथ बाएँ रखि लीनो है । ताती ताती श्वासन विनास्यो रूप होंठन कौ नीकी लाल रङ्ग मारि फीको पारि दीनो है ॥ सोचत गमाई नींद जगत बिताई राति आँखिन में आय के ललाई बास कीनो है । तेज के प्रताप गात कृच्छ्र लखात नीकी दीपक चढ़ायो सान हीरा जिमि छीनो है ॥

(१३८) राजा ने केवल एक कङ्कन बायेँ हाथ में रख कर और सब बड़े बड़े गहने उतार डाले हैं और राग रङ्ग के साज सब दूर कर दिए हैं । तत्ती श्वासों से उनके होठों का रङ्ग फीका पड़ गया है, सोच में नींद नहीं आती, जागते ही रात बीतती है, आँखों में लाली छा गई है, परन्तु तेज के कारण दुबला शरीर भी शोभायमान दीखता है, जैसे सान पर चढ़ा हुआ हीरा ।

सानुमती (राधा की ओर देख कर) शकुन्तला अपना अपना दर
हुप पर भी इसके बिरह में व्यथित हो रही है, सो क्यों
न हो ? यह इसी योग्य है ।

दुष्यन्त (बहुत सोचता हुआ इधर उधर फिर कर)—

दोहा

(१३६) चेतायो चेत्यो नहीं, मृगनैनी जब आय ।

अब चेत्यो यह हतहियो, सहन काज सन्ताप ॥

सानुमती (आप ही आप)—अहा, उस तपस्विनी के बड़े भाग्य है ।

मादव्य (आप ही आप) इसको शकुन्तला रूपी व्याधि ने फिर
घेरा, न जानूँ क्या उपाय होगा ?

कंचुकी (दुष्यन्त के पास जाकर)—महाराज की जय हो । हे प्रभू !
मैं प्रमदबन को भली भाँति देख आया । आप चल कर
जहाँ इच्छा हो, उस आनन्द के स्थान में विश्राम
कीजिये ।

दुष्यन्त—हे प्रतीहारी ! तू हमारा नाम लेकर पिशुन मंत्री से
कह दे कि, बहुत जागने से हम में धर्म्मसन पर बैठने
को सामर्थ नहीं रही । इसलिये जो कुछ काम काज प्रजा
सम्बन्धी हो, लिख कर हमारे पास यहीं भेज दे ।

(१३९) जब मेरे इस अभागो मन को शकुन्तला ने बहुत मर्ति सुष दिखाई
; तब तौ न चेता, अब पछतावे का दुःख सहने को चेता है ।

प्रतीहारी—जो आज्ञा ।

[बाहर जाता है]

दुष्यन्त—बातायन ! तू भी अपने काम पर जा ।

कंचुकी—जो आज्ञा महाराज की ।

[बाहर जाता है]

मादव्य—तुमने यह जगह तौ भली निर्मल* कर दी, अब घाम शीत की मेटने वाली इस प्रमदवन की रमनीक कुञ्ज में मन बहलाओ ।

दुष्यन्त—हे मादव्य ! यह कहनावत कि आपदा छिद्र देखती रहती है । सब है, क्योंकि—

दोहा

(१४०) मुनि दुहिता संग व्याह की, सुरति नसावनहार ।
अब ही मो मन तें टसो, मन्धकार भ्रमभार ॥
तौ लों मनसिज धनुष लै, आयो लगी न बार ।
आम मञ्जरी बान धरि, मोपै करन प्रहार ॥

मादव्य—नेक ठैरो, मनसिज के बानों को अभी लाठी से तीड़े डालता हूँ ।

[आम की मंजरियों को लाठी उठा कर झूरने को खड़ा होता है]

* निर्मल अर्थात् ऐसी निर्मल कि, जहाँ कोई मक्खी भी नहीं ।

(१४०) मेरे मन से जिस भ्रम ने शकुन्तला के साथ व्याह होने की सुघ भुल दी, सो दुःख तौ मिटा ही न था, तब तक धनुष पर आम की मंजर का बान चढ़ा कर कामदेव मुझे मारने आ गया ।

दुष्यन्त (मुसकाकर)—हाँ ! मैंने तेरा ब्रह्मतंज देख लिया, बता मित्र ! अब कहाँ बैठ कर प्यारी की उनहार बाली लताओं से बाँध ठण्डी करूँ ?

मादव्य—क्या तुमने दासी चतुरिका को आज्ञा नहीं दी है कि, हम इस समय माधवी मण्डप में मन बहलावेंगे, तू जाकर वहीं उस पट्टो को ले आ, जिसमें मेरे हाथ का खेँचा हुआ भगवती शकुन्तला का चित्र है ।

दुष्यन्त—जो ऐसा मनोहर स्थान है, तौ माधवी मण्डप का मार्ग बतला ।

मादव्य—इस मार्ग आओ मित्र ।

(दोनों चलते हैं और सानुमती पीछे पीछे जाती है)

मादव्य—जहाँ मणिजटित पटिया बिछी है, यही माधवी कुञ्ज है । निस्सन्देह यह ऐसी दीक्षती है मानो मनोहर फूलों की भेट लिये हमें आदर देती है, चलो यहीं बैठें ।

[दोनों कुञ्ज में बैठते हैं]

सानुमती (आप ही आप)—इस लता की ओट में बैठ कर मैं भी अपनी सखी का चित्र देखूँगी, फिर उसके पति का बड़ा अनुराग जाकर उससे कहूँगी ।

[लता की ओट में बैठती है]

दुष्यन्त—हे मित्र ! अब मुझे शकुन्तला के पहले वृत्तान्त की सब सुध आ गई । मैंने तुझ से भी तौ कहा था; परन्तु जिस समय मुझ से उसका अनादर बना तू मेरे पास न था । अब तक तैने भी कमी नाम न लिया, सो क्या तू भी मेरी ही भाँति उसे भूल गया था ?

मादव्य—नहीं नहीं, मैं नहीं भूला था। परन्तु जब तुम सब बात कह चुके थे, तब यों भी तौ कहा था कि, यह स्नेह की कहानी हमने मन बहलाने को बनाई है और मुझ गोबरगणेश ने तुम्हारे कहने को अपने भोले भाव से प्रतीति कर लिया था, भवतव्यता प्रबल है।

सानुमती (आप ही आप)—ठीक कहा।

दुष्यन्त (शोक में)—हे सखा ! मुझे दुःख से छुड़ा।

मादव्य—यह तुम्हें क्या हुआ है। सत्पुरुषों का शोक में अधीर होना योग्य नहीं। देखो, पवन कैसी ही चले पर्वत को नहीं डिगा सकती।

दुष्यन्त—हे मित्र ! जिस समय मैंने प्यारी का त्याग किया, उसकी ऐसी दशा थी कि, अब सुध कर के मैं व्याकुल हुआ जाता हूँ।

देहा

(१४१) मैं न लई अबला लगी, निज साथिन संग जान ।
हटकि कही रहि रहि यहीं, मुनिसुत पिता समान ॥
तब जु दीठि मो तन करी, आँसुन भरी रसाल ।
दहति निदुर मेरो हियो, मनहु भरी विष भाल ॥

(१४१) जब मैंने कह दिया कि मैं तुझे नहीं ले सकता, तब वह अपने साथ वालों के पीछे चलने लगी। उन में से एक ऋषिकुमार ने जिसे वह गुरु के समान मानती थी; घुड़क के कहा कि तू हमारे साथ मत चल, यहीं रह। उस समय जो आँसू भरी हुई दीठि उसने मुझ पर डाली, सो अब मेरे कठोर हृदय को ऐसा छेदती है मानों विष की बुझी हुई भाला।

सानुमती (आप ही आप)—अहा स्वार्थ कैसा प्रबल होता है कि,
इसका सन्ताप भी मुझे सुहाता है ।

मादव्य—मेरे बिचार में तौ यह आता है कि उस भगवती को
कोई देवता उठा ले गया ।

दुष्यन्त—ऐसी पतिव्रता को छूने की भी किस में सामर्थ्य हो
सकती है ? मैंने सुना है कि, उसकी मा मेनका अण्डरा
है । सो उसी को सखियाँ ले गई होंगी, यह शङ्का मेरे
मन में आती है ।

सानुमती (आप ही आप)—सुध का भूलना अचरज की बात है
न कि सुध का आना ?

मादव्य—मित्र ! जो यही बात है, तौ उसके मिलने में कुछ
बिलम्ब मत जानो ।

दुष्यन्त—क्यों, यह कैसे जाना ?

मादव्य—ऐसे जाना कि मा बाप अपनी बेटा को वियोग में
बहुत काल दुखी नहीं देख सकते ।

दुष्यन्त—हे मित्र—

दोहा

(१४२) सपनो हो कै भ्रम कलू, कै माया को जाल ।
कै फल मेरें पुत्र को, प्रगटि मिट्यो तत्काल ॥

(१४२) शकुन्तला के साथ मेरा मिलाप हुआ सो क्या सपना था । अथवा
माया का जाल था अथवा मेरे पुत्रों का फल था कि उदय हो कर
तुरन्त मिट गया । कुछ हो वह सुख फिर न मिलेगा, मेरा मनोरथ
तौ अब अथाह में पड़ गया ।

वा सुख के फिर मिलन की, आस रही बहुत नाहिं ।
परे मनोरथ जाय मम, अब अथाह के माहिं ॥

माढव्य—ऐसा मन कहो । देखो, मुँदरी ही दृष्टान्त इस बात का
है कि खोइ हुई वस्तु फिर मिल सकती है, दैव इच्छा
सदा बलवान है, अकस्मात् भी समागम हो जाता है ।

दृश्यन्त (मुँदरी को देख कर)—हाय यह मुँदरी भी अभागी है,
क्योंकि ऐसे स्थान से गिरी है जहाँ फिर पहुँचना
दुर्लभ है ।

दीहा

(१४३) हे मुँदरी तेरो सुकृत, मेरो ही सौ हीन ।
फल सों जान्यों जात है, मैं निरनै करि लीन ॥
अधिक मनोहर मरुणनख, उन अँगुरिन काँ पाय ।
गिरी फेर तू आय जब, पुन्य गयो निबटाय ॥

सानुमती (आप ही आप)—जो किसी और के हाथ पड़ती तो
निःसन्देह इस मुँदरी का भाग्य खोटा गिना जाता ।

माढव्य—कृपा करके यह तो कहो कि मुँदरी उस भगवती की
अङ्गुली तक कैसे पहुँची ?

सानुमती (आप ही आप)—मैं भी यही सुना चाहती थी ।

(१४४) हे अँगूठी ! फलों से जान पड़ता है कि तेरा पुन्य भी मेरा ही सा तुच्छ
था; क्योंकि तू उन लाल नखों वाली अँगुलियों में पहुँच कर फिर
गिर गई ।

दुष्यन्त—सुनो, जब मैं तपोवन से अपने नगर को चलने लगा, तब प्यारी ने माँखें भर के कहा कि भार्यपुत्र ! फिर कब सुध लगे ?

मादव्य—भला, फिर ?

दुष्यन्त—तब यह मुँदरी उसकी अंगुली में पहिना कर मैंने उत्तर दिया कि—

देहा

(१४४) अच्छर मेरे नाम की, दिन दिन गिनियो एक ।
या मुदरी के माँहि तू, करि अपने मन टेक ॥
नहचे करिके जानियो, पिछलो दिन जब होइ ।
आवेगो रनवास तैं, आज लिवावन कोइ ॥

परन्तु हाथ ! मुझ निर्दई को यह सुध न रही ।

सानुमती (आप ही आप)—मिलने की अवधि तौ अच्छी रखी थी ; परन्तु बिधाता ने बिगाड़ दी ।

मादव्य—फिर यह मुँदरी धीवर की काटी हुई रोहू के पेट में कैसे गई ?

दुष्यन्त—जिस समय प्यारी ने सखीनीर्थ से आचमन का जल लिया, हाथ से गड़्गा जी में मुँदरी गिर पड़ी ।

मादव्य—ठीक है ।

(१४४) इस मुँदरी के माँहि जो मेरे नाम के अक्षर हैं, उन्हें तू प्रतिदिन एक एक करके गिनियों । जिस दिन वे खतम होंगे ; उस दिन निश्चय मन में समझ लीजो कि आज रनवास से कोई लिवाने आवेगा ।

सानुमती (आप ही आप)—महा ! यही बात है कि इस राजर्षि ने अधर्म से डर कर तपस्विनी शकुन्तला के साथ व्याह होने में सन्देह किया ; परन्तु मुँदरी के देखने से इतना अनुराग इसे क्योंकर हुआ ?

दुष्यन्त—इसोलिये मैं इस मुँदरी की निन्दा करता हूँ ।

माढव्य (आप ही आप)—इसने तौ उन्मत्तों का मार्ग लिया है ।

दुष्यन्त—

दोहा

(१४५) यह तौपै कैने बनी, मरो मुँदरी हाय ।

उन कोमल अँगुरीन तजि, पैठो जल में जाय ॥

परन्तु—

नाहिं अचेतन वस्तु को, गुन औगुन की ज्ञान ।

मैं चेतन हूँ क्यों कियो, प्यारी को अपमान ॥

माढव्य (आप ही आप)—यह तौ मुँदरी के ध्यान में है, मैं क्यों भूखा मरूँ ?

दुष्यन्त—हे प्यारी ! मैंने तुझे निष्कारण त्यागा, अब दयालु हो कर मुझ तप्त हृदय को फिर दर्शन दे ।

(एक स्त्री चित्र हाथ में लिये आती है)

चतुरिका—महाराज ! देखिये महारानी का चित्र यह है ।

[चित्र दिखाती है]

माढव्य—हे सखा ! यह चित्र बहुत ठीक बना है । जो वस्तु जहाँ जैसी चाहिये वहाँ वैसी ही लिखी है, मेरी दृष्टि तौ इस की ऊँचाई निचाई में धोखा सा खा जाती है ।

(१४५) हे मुँदरी ! तुझे उन कोमल अङ्गुलियों को छोड़ जब मैं पैठे कैसे बना ? यह मुँदरी तौ अचेत वस्तु है इसे बुरे भले का क्या ज्ञान होगा ; परन्तु मैंने चेतन होकर क्यों उस स्त्री का अपमान किया ?

सानुमती (आर ही आप) - प्रज्ञा धन्य है इस राजर्षि की निपुणता, चित्र में सखी मुझे ऐसी दिखाती है मानो साक्षात् सामने खड़ी है ।

दुष्यन्त -

दोहा

(१४६) जो जो बान न चित्र में, सखयो यथारथ लाय ।
 सो सो मैंने अन्यथा, मन तें दर्द बनाय ॥
 तऊ रूप लावन्य ऊँचि, वाके तन की आय ।
 कलकति सीरेखान में, कछु कछु परतिलखाय ॥

सानुमती (आर ही आप) - यह वचन स्नेह के बड़े पछतावे के योग्य ही है और निरभिमान के भी ।

मादव्य - यहाँ तो तीन भगवती दीखती हैं और सभी देखने योग्य हैं, इनमें भगवती शकुन्तला कौन सी है ?

सानुमती (आप ही आप) - इसने उस रूपवती का दर्शन नहीं किया, इससे इसकी आँखें निष्फल हैं ।

दुष्यन्त - भला बतला तो इनमें किसको तू शकुन्तला जानता है ?

मादव्य - मेरे जान तो यही शकुन्तला होगी, जिसका केशबन्ध ढीला होकर बालों से फूल गिरते हैं, शरीर कुछ थका हुआ सा दीखता है, पसीने की बूँदें मुख पर ढलक रहीं हैं, निराली भाँति बाँह फैला रही है और इस सींचे हुए नई कोंपलों वाले आम के पास खड़ी है । आस पास

(१४६) चित्रों की रीति है कि जो वस्तु चित्र में यथार्थ न आसके उसे दूसरी भाँति लिख देते हैं, ऐसा ही मैंने भी इस चित्र में किया है । तब भी उस प्यारी के रूप की छवि कुछ कुछ इस की रेखाओं में झलकती है ।

दोनों सखी होंगी ।

दुष्यन्त —तू बड़ा प्रवीन है । देख, इस चित्र में ये मेरे सास्विक भाव के चिन्ह हैं ।

दोहा

(१४७) लगी पसीजी आंगुग, दीखनि देख मलीन ।

आँखु गिरे कपोल पै, रँगा फोका कर दीन ॥

हे चतुरिका ! अभी इन बिनादृश्यन का चित्र पूरा नहीं बना । तू जा कर चित्र बनाने की सामग्री ले आ ।

चतुरिका—लो मादृश्य जब तक मैं आऊँ तुम चित्रपाटी थामे रहो ।

दुष्यन्त —जा तब तक हमीं लिये रहेंगे (चित्र हाथ में लेता है)

[चतुरिका जाती है]

दुष्यन्त—हाय—

(१४८) जब प्यागी मो सम्मुख आई ।

करी अधिक मैंने निटुराई ॥

चित्र लिखो अब लिख लिख वाकौं ।

फिर फिर आदर देन न थाकौं ॥

बहती नदी उतगि ज़िम्मि कोई ।

मृगतृष्णा को धावन होई ॥

सो गति आनि भइ अब मेरी ।

होति पोर पछात घनेगी ॥

(१४९) पसीजती हुई आँखियों से किनारे मेरु हा गए हैं, और आँखु को बूँद कपोल पर टपकी है जिसमें रङ्ग बिगड़ गया है ।

(१५०) जब वह मेरे सामने आप आई तब मैंने कोराता करके उसे न लिया । अब उस के चित्र को बार बार आदर दे कर भी थकना नहीं हूँ । मेरी गति ऐसी है जैसे कोई नदी जहाँ से उतरता है वहाँ तक आकर रुकता है ।

मादव्य (आप ही आप)—यह तो नदी उतर मृगतृष्णा में पड़ा है (प्रगट) मित्र ! अब इसमें क्या लिखना रहा है ?

सानुमती (आप ही आप)—मेरे जान तौ अब राजा उन स्थानों को लिखेगा जो मेरी सखी को प्यारे थे ।

दुष्यन्त—सुन—

दोहा

(१४६) लिखन काज अब ही रह्यो, बहत मालिनी नीर ।

हंसन की जोड़ी सुभग, राजत जाके तीर ॥

दुह्र और पावन लिखूँ, हिमवत चरन पहार ।

बैठे हरिन सुहावने, जिन पै करत जुगार ॥

चाहत हूँ औरहु लिखूँ, तरवर एक अनूप ।

डारन पै बलकल बसन, परे लगन की धूप ॥

नीचे ताही रुख के, हिरनी लिखूँ बनाय ।

दूग कर सायर सींग ते, बायों रही खुजाय ॥

(१४९) लिखने की बातें ये हैं कि मालिनी नदी बनाई जाय. उनकी रेती में हंस के जोड़े बैठे हों, नदी के दोनों ओर पवित्र हिमालय की तलहटी के पहाड़ हों, जिन पर हरिण बैठे जुगाल करते हों और मैं यह भी चाहता हूँ कि किसी वृक्ष के नीचे जिसकी डालियों पर छाल के वस्त्र सूखते हों एक हरिण लिखूँ, जो अपनी बाँहों आँख काले हरिण के सींग से खुजला रही हो ।

माढव्य (आप ही आप) — मेरे जान तौ इसे चाहिये कि खित्र-
पाटी को डाढ़ी वाले तपखियों से भर दे ।

दुष्यन्त — हे मित्र ! यहाँ शकुन्तला का एक आभूषन लिखना
चाहता था, सो मैं भूल गया ।

माढव्य — कैसा आभूषन ?

सानुमती (आप ही आप) — जैसा बन युवतियों का होता है ।

दुष्यन्त — हे मित्र !

दीहा

(१५०) कानन पै न लिख्यो गयो, सिरस फूल सुकुमार ।

लटकत आई कपोल पै, जाके केशर बार ॥

उरहू पै लिखनी रही, कमलनाल की माल ।

शरद चन्द्र की किरन सम, कोमल और रसाल ॥

माढव्य — मित्र ! यह भगवती अपने मुख को रक्त कमल के
पल्लव समान हाथ से छुपाए चकित सी क्यों खड़ी है ?
(चित्त लगा कर देखता है) अहा ! मैं जान गया, यह
दासी-जाया भौंरा फूलों के रस का खोर ! भगवती के
मुख पर घूमता है ।

(१५०) अभी कानों पर सिरस का फूल लिखना रहा है, जिसके केश कपोल
पर लटकते हों और छाती पर कमलनाल की माछा लिखनी रही है,
जो चन्द्रमा की किरन समान कोमल और सुन्दर हो ।

दुष्यन्त—इस धृष्ट भौरे को दूर करो ।

माढय—धृष्टा को दण्ड देने का सामर्थ्य तुम्हीं का है, तुम्हीं इसे दूर कर सकोगे ।

दुष्यन्त—डोक कश है, पुण्य लनामों के प्यारे पाहुने ! तू यहाँ घूमने क्यों आया है ?

देहा

(१५१) बैठी भौरी फूल पै, हेरति तेरी गैल ।

लगी प्रीति मधु ना पिये, प्यासी हू बिन छैल ॥

स्वानुमती (आर ही आप)—यह बरजना बहुत उत्तम रीति से हुआ ।

माढय—भौरे को जानि ढोठ होती है, हटाए से नहीं हटता ।

दुष्यन्त—मरे भौरे ! जो तू मेरी आह्वा न मानेगा तौ सुन—

शिखरनी

(१५२) प्रिया कौ है बिम्बाधर, मृदुल ज्यों पल्लव नयो ।

लियो धीरे धीरे रहनि, रस मैंने रत समै ॥

छुपगो जो तू रे भँवर, कहूँ वाकों तनकहू ।

करूँ तोंकों बन्दी पकरि, प्रकुला के उदर में ॥

(१५१) हे भौरे ! यह भौरी फूल पर बैठी हुई तेरी बाट हेरती है, भूखी प्यासी भी तेरे बिना रस नहीं लेती ।

(१५२) मेरी यारी के होंठ ऐसे कौमल हैं जैसी नहीं कोंपल, इसीसे मैंने मिलाप के समय धीरे धीरे अघरायुत लिया था । अरे भौरे ! जो तू इन होंठों को तनक भी छुरगा तौ तुझे कमल के उदर रूपी बन्दीधर में बंधुआ बना कर ढाक दूँगा ।

माहव्य—ऐसे कड़े दूँड से कौन न डरेगा (हँस कर आप ही आप)—
यह तो लिडी हो गया है, इसके साथ रहने से मैं भी
ऐसी बातें कहने लगा । (प्रगट) हे सख्ता ! यह प्यारी
नहीं है, चित्र है ?

दुष्यन्त—कैसा चित्र ?

सानुमती (आप ही आप)—इस समय तो मुझे भी ज्ञान न रहा
कि, यह चित्र है । फिर इस राजा को क्यों कर रहा
होगा ?

दुष्यन्त—अरे मित्र ! तैने कुरा किया—

दोहा

(१५३) मैं दरशन सुख लेत हो, इफ्टक चित्त लगाय ।
साक्षात्तहि ठाड़ी मने, सम्मुख मेरे आय ॥
तौ लौं तैं मोकों वृथा, सुरति दिवाई मित्र ।
अब प्यारी फिर रहि गई, लिखी चित्र की चित्र ॥

[भाँसू डाकता है]

सानुमती (आप ही आप)—विरह की गति निराली है, जिधर
देखता है इसे क्लेश ही दृष्टि आता है ।

दुष्यन्त—हे मित्र ! अब मैं यह घडो घड़ी का दुःख कैसे सहूँ ?

(१५३) हे मित्र ! मैं तो अपनी प्यारी के दर्शन का सुख उठा रहा था. तैने
क्यों कह दिया कि यह चित्र है । अब तक तौ मेरे आगे वह साक्षात्
थी, अब फिर चित्र लिखी रह गई ।

दोहा

(१५४) नित के जागत मिटि गयो, वासँग सुपन मिलाप ।

चित्र दर्शहु को लग्यो, आँखिन आँसु पाप ॥

सानुमती (आप ही आप)—तैने शकुन्तला के अपमान का दुःख सब धो दिया ।

(चतुरिका आती है)

चतुरिका—स्वामी की जय हो ! मैं रङ्गों का डिब्बा लिये इधर आती थी ।

दुष्यन्त—तब क्या हुआ ?

चतुरिका—महारानी बसुमती ने तरलिका सहित मार्ग में आकर मेरे हाथ से डिब्बा छीन लिया और कहा कि इसे मैं ही महाराज को चल कर दूँगी ।

मादव्य—मच्छा हुआ कि तू बच आई ।

चतुरिका—रानी का वरु एक काँटे के वृक्ष में अटक गया उसे छुड़ाने में तरलिका लगी तब तक मैं निकल आई ।

दुष्यन्त—हे सखा ! मानगर्विता रानी बसुमती आती है तू इस चित्र को छुपा ले ।

(१५४) नित के जगने से स्वप्न का होना मिट गया, इससे प्यारी के साथ स्वप्न मिळाप नहीं होता और चित्र दर्शन इसलिये दुर्लभ है कि, जब चित्र को देखता हूँ आँखों में आँसु भर जाते हैं जिससे दीर्घा धुँधला जाती है ।

माढव्य—यों क्यों न कहो कि मुझे छुपा ले (यह कहता चित्र को लेकर ब्रता है) जब तुम रनवास के कालकूट से छूट जाओ मुझे मेघ प्रतिच्छन्द भवन से बुला लेना ।

[वेग वेग जाता है]

सानुमती (आप ही आप)—दूसरी में आसक्त हो कर भी यह पहिली प्रीति निवाहता है ; परन्तु अब इस रानी में इसका अनुराग थोड़ा ही दोषता है ।

(प्रतीहारी पत्र हाथ में लिये आती है)

प्रतीहारी—महाराज की जय हो !

दुष्यन्त—हे प्रतीहारी ! तैने महारानी बसुमती को तौ मार्ग में नहीं देखा ?

प्रतीहारी—हाँ महाराज मुझे मिली तौ थीं परन्तु मेरे हाथ में चिट्ठी देख कर उलटी लौट गईं ।

दुष्यन्त—रानी समय को पहचानती है, मेरे काम में विघ्न डालना नहीं चाहती ।

प्रतीहारी—महाराज ! मन्त्री ने यह बिनती की है कि भण्डार में रुपया बहुत आया उसके गिनने से अवकाश न था । इसलिये केवल एक ही पुरकाज हुआ है सो इस पत्र में लिख दिया है, आप देख लें ।

दुष्यन्त—लाओ चिट्ठी दिखलाओ ।

[प्रतीहारी चिट्ठी देती है]

दुष्यन्त (चिट्ठी बँचिता है)—“ समुद्र व्यवहारी धनमित्र नाम सेठ नाव में डूब कर मर गया । पुत्र कोई नहा छोड़ा, उसका

धन राज भण्डार में माना चाहिये"। (शोक से) हाय !
निपुत्रा होना, कैसे शोक का बात है ; परन्तु जिसके
इतना धन था उसकी स्त्री भी कई होंगी । इसलिये
पहिले यह पूँछ लेना चाहिये कि उन स्त्रियों में कोई
गर्भवती है कि नहीं ।

प्रतीहारी—महाराज सुना है कि उनकी एक स्त्री का जो अयुध्या
के सेठ की बेटी है अभी गर्भाधान संस्कार हुआ है ।

दुष्यन्त—गर्भ का बालक पिता के धन का अधिकारी होता है, जा
मन्त्री से ऐसा ही कह दे ।

[बाहर जाती है]

प्रतीहारी—जो आज्ञा ।

दुष्यन्त—ठैर तो ।

प्रतीहारी (फिर आ कर)—महाराज मैं आई ।

दुष्यन्त—इसमें क्या है संतान हो कि न हो ।

देहा

(१५५) केवल पापिन के बिना, मम परजा के लोग ।

जा जा प्यारे बन्धु को, विधिवत् लहें बियोग ॥

गिनें नृपति दुष्यन्त को, ताही ताही ठैर ।

नगर ढंढोरा देहु यह, कहा कछु मति और ॥

तीहारी—यही ढंढारा जायगा ।

[बाहर जाती है]

(१५५) प्रजा में पापियों के बिना जिस किन्नी को किन्नी प्यारे बान्धव का
वियोग हो, वह दुष्यन्त को उसी बान्धव की ठैर समझे ।

प्रतीहारी—महाराज की आज्ञा ने नगर में ऐसा आनन्द दिया है
जैसे योग्य समय की वर्षा देती है ।

दृश्यन्त (गहरी श्वास भर कर)—जिस कुल में आगे का सन्तान
नहीं होती. उनकी सम्पत्ति मूल पुरुष के मरे पीछे
योंहीं पराये घर जाती है । किसी दिन मेरे पीछे पुरु-
वंश का वैभव भी ऐसा रह जायगा, जैसे अकाल में
बोई हुई भूमि ।

प्रतीहारी—ईश्वर ऐसा अमङ्गल न करे ।

दृश्यन्त—धिकार है मुझे कि मैंने प्राप्त हुए सुख को लात मारी ।

शानुमती (आप ही आप)—निश्चय इसने अपनी निन्दा मेरी
सखी को सुधि करके की है ।

दृश्यन्त—

दोहा

१४६) वंश प्रतिष्ठा में तजी, निज पत्नी निष्पाप ।

बैठ्यो जाके गरभ में, जन्म लेन हित आप ॥

समय पाय बोई मनो, वसुन्धरा कृषिकार ।

त्याग दई फिर आपही, फल आवन की बार ॥

शानुमती (आप ही आप)—तेरा वंश अटूट रहेगा ।

।तुरिका—(प्रतीहारी से) हाय ! सेठ के इस वृत्तान्त ने स्वामी
की क्या गति कर दी । इसका चित्त बहलाने के लिये,
जा तू माढ्य को मेघप्रतिच्छन्द भवन से लिवा ला ।

१५६) मैंने अपने कुल की प्रतिष्ठा धर्मपत्नी जो मुझ से गर्भवती थी, ऐसी
त्यागी जैसे फल आने के समय कोई किसान अपनी बोई हुई धरती
को त्यागता है ।

(नेपथ्य में)—सखा बलियो, बलियो ।

दुष्यन्त (सुनता और दौड़ता हुआ)—डरो मत मित्र ! कुछ भय नहीं है ।

(नेपथ्य में)—भय क्यों नहीं है, यह तो मेरे कण्ठ को पकड़े ईश्वर की नाइं एंटे डालता है ।

दुष्यन्त (चारों ओर देखता हुआ)—है रे कोई, मेरा धनुष लावे ।

यवनी (धनुष लिये आती है)—महाराज हस्तावार* सहित धनुष यह है ।

[दुष्यन्त धनुष बान लेता है]

(नेपथ्य में)—

दीहा

(१५६) प्यासो मेरे कण्ठ के, मद लेहू की आज ।
तोहि तरफती मारिहों, उयों पशु की मृगराज ॥
अब कित है दुष्यन्त जो, दैन मभय का दान ।
तुरतहि अपने धनुष पै, तानि चढ़ावत बान ॥

दुष्यन्त (क्रोध से)—हैं ! यह तो मुझे बिनौती देना है । अरे मरी लोथ के खाने वाले ! खड़ा रह, मैं आया अब तेरी मृत्यु समीप पहुँचो । (धनुष चढ़ाकर) प्रतीहारो, सीढ़ी दिखाता ।

* हस्तावार उस अस्त्र को कहते हैं जो धनुष की प्रत्यक्षा की फटकार से बाँह को बचाने के लिये पहुँचे पर धारण किया जाता है ।

(१५९) तेरे कण्ठ के लोहू का प्यासा मैं तुझे ऐसे पछाड़ूंगा जैसे तड़फाते पशु को सिंह मारता है ! अब बन जा दुष्टियों की रक्षा के लिये धनुष धारण करने वाला दुष्यन्त कहाँ है जो तुझे बचावे ?

प्रतीहारी—गैल यह है महाराज ।

[वेग वेग जाते हैं]

दुष्यन्त (चारों ओर देखकर)—हैं ! यहाँ तो कोई नहीं है ।

(नेपथ्य में)—बचाओ, कोई मुझे बचाओ । महाराज ! मैं तो तुम्हें देखता हूँ, तुम्हीं मुझे नहीं देखते, इस समय मैं अपने जीने से ऐसा निरास हो रहा हूँ, जैसे बिलाव का पकड़ा मूला ।

दुष्यन्त—हे मायाजाल के अभिमानी ! तू मुझे नहीं दीखता तो क्या है, मेरे बान का तौ दोखेगा अब मैं बान चढ़ाता हूँ । जो—

सोरठा

(१६०) तौ पापी का मारि, लेगो दुजहिं बचाय यो ।
जैसे लेत निकारि, हंस नीर ते दूध को ॥

[धनुष पर बान चढ़ाता है]

(मादव्य को छोड़ कर मातलि आता है)

मातलि—

दोहा

(१६१) दीने तेरे अख्र कों, हरि ने असुर बताय ।
तिनहीं पै किन लेहि तू, अपना धनुष चढ़ाय ॥
मित्रन पै छोड़त नहीं, सज्जन तीखे बान ।
पै डारत नित प्रीति की, मृदुल दीठि सुखदान ॥

(१६०) यह तुझ दुष्ट को मार कर ब्राह्मण को ऐसे बचा लेगा ; जैसे पानी में से दूध को हंस निकाल लेता है ।

(१६१) हे राजा ! तेरे बानों के लिये तौ इन्द्र ने असुर बतला दिये हैं । तू उन्हीं पर बान छोड़ । मित्रों पर तो सज्जनों की कृपा दृष्टि चाहिये ।

दुष्यन्त (अब उतारता हुआ)—मामो इन्द्र के सारथी तुम भले आये ।

(माढव्य आता है)

माढव्य—हैं ! जो मुझे बलिपशु की भाँति मारे डालता था, उसका यह आदर करता है ।

मातलि (मुसका कर)—महाराज ! जिस काम के लिये इन्द्र ने मुझे आप के पास भेजा है, सो सुन लो ।

दुष्यन्त—कहो, मैं सुनता हूँ ।

मातलि—कालनेमि के वंश में दानवों का ऐसा एक गण प्रबल हुआ है कि, उसका जीतना इन्द्र को कठिन हो रहा है ।

दुष्यन्त—यह तो मैं आगे ही नारद जी के मुख से सुन चुका हूँ ।

मातलि—

देहा ।

(१६२) जीतयो गयो न इन्द्र पै, बल सों जो रिपुबंस ।

रन अगमानी तुम किए, करन ताहि विध्वंस ॥

अन्धकार जिमिराति कौ, सकत न भानु मिटाय ।

पै रजनीपति दरश तैं, सहजहि जात बिलाय ॥

अब तुम हथियार बाँधो और इन्द्र के रथ पर चढ़ कर विजय को चलो ।

दुष्यन्त—देवराज ने यह आदर दे कर मेरे ऊपर बड़ी कृपा की ! परन्तु यह कहो कि माढव्य को तुमने ऐसा क्यों सताया ।

(१६२) जिस शत्रु के वंश को जीतने को तुम्हारा सखा इन्द्र असमर्थ है, उसके मारने को युद्ध में तुम्हें मुखिया कहे गये हो । जैसे, रात के अँधेरे को मिटाने का बूता सूर्य में नहीं होता, परन्तु चन्द्रमा मिटा देता है ।

मातलि—किसी कारण आप को मैंने उदास देखा, तब रोस दिलाने केलिये यह काम किया था, क्योंकि

दोहा

(१६३) ईंधन के टारे बिना, बढ़त न पावक लोइ ।
फण न उठावत नागदू, जो छेड़यो नहिं होइ ॥
नर न लेत अभिमान मन, बिना क्षोभ कछु पाय ।
कहियत इन तीनों के, बहुधा यही सुभाय ॥

दुष्यन्त (माढव्य से हँले)—हे सखा ! देवपति की आज्ञा उल्लंघन योग्य नहीं है । इससे तू पिसुन मंत्री को यह समाचार सुना कर मेरी ओर से कह देना, कि—

दोहा

(१६४) लाग्यो और ही काम में, जब लग मेरो चाप ।
तब लग परजा पालि तू, अपनी मति सेँ आप ॥

माढव्य—जो आज्ञा ।

[जाता है]

मातलि—महाराज रथ पर चढ़िये ।

[दुष्यन्त रथ पर चढ़ता है और सब जाते हैं]

छठवाँ अङ्क समाप्त हुआ

(१६३) जब तक ईंधन हिलाया न जाय, आग अच्छी तरह नहीं जलती और जब तक साँप छेड़ा न जाय फन नहीं उठाता । ऐसे ही जब तक मनुष्य का अपमान न किया जाय, उसे रोस नहीं आता ।

(१६४) जब तक मेरा धनुष दूसरे काम में प्रवृत्त है : तब तक तुम अपनी बुद्धि से प्रजा की रक्षा करो ।

अंक (७)

(दुष्यन्त और मातलि रथ पर बैठे हुए आकाश से उतरते हैं)

दुष्यन्त—हे मातलि ! यह तौ सच है कि मैंने इन्द्र की आज्ञा पाली;
परन्तु फिर भी मैं अपने को इस बड़े आदर के योग्य
नहीं जानता हूँ, जो देवनायक ने मुझे दिया ।

मातलि (हंस कर)—महाराज ! दोनों को यही संकोच है ।

दोहा

(१६५) तुम हरि कौ एतौ किये, यदपि बड़ो उपकार ।
ताहि न मानत हो कछु, देखि इन्द्र सत्कार ॥
जानि तुम्हारी बीरता, चकित वहू मन माहिं ।
दियो इतो आदर तऊ, गिनत ताहि कछु नाहिं ॥

दुष्यन्त—ऐसा मत कहो, इन्द्र ने बिदा करते समय मेरा इतना
सन्मान किया जितने की आज्ञा न थी, क्योंकि देवताओं
के देखते मुझे अपनी आधी गद्दी पर बिठाया, और—

चौपाई

(१६६) जाहि मिलन की धरि मन आसा ।
ठाड़ो हो जयन्तहू पास ॥
सो माला मंदार सुमन की ।
लै उरते लिपटी चन्दन की ॥

(१६५) हे राजा ! तुमने इन्द्र का इतना बड़ा उपकार किया, फिर भी उसके
आदर के सामने उस उपकार को तुच्छ ही जानते हो और वह भी तुम्हारी
बीरता देख कर अपने दिए हुए सन्मान को कुछ भी नहीं गिनता ।

(१६६) जिसके मिलने की आज्ञा करके जयन्त पास खड़ा था सो हरिचन्दन
लगी हुई मन्दार की माला, इन्द्र ने छाती से उतार बैठे की ओर मुसका
कर अपने हाथ से मेरे गले में डाल दी, जिससे मेरा बड़ा सत्कार हुआ ।

हंसि मुसकाय सुवन की ओरी ।
 कृपा दीठि मो-तन हरि मोरी ॥
 अपने कर मेरे गल डारी ।
 यह आदर दीनो मुहि भारी ॥

मातलि—हे राजा ! देवताओं से आप किस किस सरकार के योग्य नहीं हो ?

दोहा

(१६७) सुरपुर कौ छेही कियो, दानव कंटक दूर ।
 आगे नख नरसिंह के, अब तेरे शर कूर ॥

दुष्यन्त—हमको इस यश का मिलना भी देवनायक की महिमा का ही फल है, क्योंकि—

चौपाई

(१६८) कारज सिद्ध बड़ा जब होई ।
 सेवक जन हाथन तें कोई ॥
 कारन तासु जानि मन लीजे ।
 स्वामि कृपा सन्देह न कीजे ॥
 अरुण कहाँ इतनो बल पावे ।
 रैन अंधेरो आय मिटावे ॥
 देहि डोर वाकों यदि नाहीं ॥
 रवि अपने आगे रथ माहीं ॥

(१६७) स्वर्ग का दुख दो हो ने मियाया है, पहिले नरसिंह जी के नखों ने, अब तुम्हारे तीखे बानों ने ।

(१६८) जब कोई बड़ा काम आज्ञाकारियों से बन पड़ता है तो स्वामियों की बड़ाई का फल समझा जाता है । क्या अरुण की सामर्थ्य थी कि रात्रि के अन्धकार को दूर करता । कदाचित् सूर्य अपने आगे उसे रथ पर आसन न देता ।

मातलि—ठीक है। (थोड़ी दूर चल कर) हे राजा ! इधर दीठि कर
के अपने स्वर्ग तक पहुँचे हुए यश का गौरव देखो—
दोहा

(१६६) सुर युवतिन अंगराग तें, बचे कछु जो रङ्ग ।
तिनसों देवा लिखत ये, तेरे चरित प्रसङ्ग ॥
आछे सुरतरु पतन पै, मधुरे गीत बनाय ।
सोचत बैठे सगसपद, गहरो ध्यान लगाय ॥

दुष्यन्त—हे मातलि ! दानवों को मारने के उत्साह में पहिले
दिन इधर से जाते हुए हमने स्वर्ग मार्ग भली भाँति
नहीं देखा था। अब तुम कहो, इस समय हम पवनों के
किस पन्थ में चलते हैं ?

मातलि—

दोहा

(१७०) यह मग हरि पावन कियो, दूजो पाँव बढ़ाय ।
है याकी वह पवन जो, परिवह जाति कहाय ॥

(१६९) अपनी स्त्रियों के अङ्गराग से बचे हुए महावर कस्तूरी चन्दन इत्यादि
से ये देवता तेरे चरितों को गीतों में रच रच कर बैठे हुए कल्पवृक्ष
के पत्तों पर लिखते हैं ।

(१७०) यह मार्ग बावन जी के दूसरे पैर का पवित्र किया हुआ है और इसमें
वह पवन चलती है जो पवित्र कहलाती है। वही पवन आकाश गङ्गा
को बहाती है और सप्त ऋषि मण्डल को घुमाती है। पुराण के मत से
आकाश ७ मार्गों में बँटा हुआ है और प्रत्येक मार्ग में अलग अलग
पवन चलती हैं। पहिला मार्ग भूलोक है जिसका विस्तार सूरज तक है।
इस मार्ग में जो पवन चलती है आवह कहलाती है; वही अन्तरिक्ष में
बढ़ कर बादलों और बिजली और उल्कापात को चलाती है। शेषजी

वही पवन. नभगङ्ग कों, निजप्रति रही बहाय ।
बाँटि किरन इत उत वही, जोतिन देति घुमाय ॥

दुष्यन्त—हे मातलि ! इसीसे मेरा आत्मा बाहर भीतर की इन्द्रियों
सहित आनन्द को पहुँचा है । (रथ के पहियों को देख कर)
अब तौ हम मेघों के मार्ग में उतर आए ।

मातलि—यह आपने क्यों कर जाना ?

दुष्यन्त—

(१७१) निकसि प्ररन के बीच है, इत उत चातक जात ।
तुरगन हू के अंग पै, बिजल छटा लहरान ॥
भीगे पहिया मेह में, रथ ही देत बताय ।
नीर भरे बदरान पै, अब पहुँचे हम आय ॥

मातलि—अभी एक क्षण में आप अपने राज्य में पहुँचते हैं ।

दुष्यन्त (नीचे देख कर)—वेग से उतरने में मनुष्य लोक अक्षरज
सा दीखता है ।

हैं वह स्वरलोक अर्थात् स्वर्ग में हैं । इनमें से पहिले में प्रवाह पवन
सूरज को चलाती है । दूसरे में सम्बाह पवन चन्द्रमा को घुमाती है ।
तीसरे में उद्रह पवन नक्षत्रों को चलाती है, चौथे में विवाह नाम पवन
सातों ग्रहों को चलाती है । पाँचवें में परिवह नाम पवन सप्त ऋषियों
और स्वर गङ्गा को चलाती है । छठे में पग्वाह पवन ध्रुव के तारे को
घुमाती है ।

(१७१) तुम्हारा रथ ही कहे देता है कि हम जल भरे हुए बादलों में से चलते
हैं, क्योंकि पहिये भीगे हैं, इन्द्र के घोड़ों के अङ्ग बिजली से चमकते
हैं और पहियों के अरों में होकर चातक इधर से उधर उड़ते हैं ।

चौपाई

(१७२) दीखत शैल शिखर उठती सी ।
 पुहुमि जाति नीचे खसती सी ॥
 रहे रुख जो पात ढके से ।
 लगत कन्ध तिनके निकसे से ॥
 सरित लखी जो मनहु सुखानी ।
 परत दीठि उनके अब पानी ॥
 आवत लोकहु ओर हमारी ।
 जिमि ऊपरको दियो उछारी ॥

मातलि—आप ने भला देखा (पृथ्वी को आदर से देख कर) महा !
 मनुष्य लोक कैसा रमनोक दिखाई देता है ?

दुष्यन्त—मातलि ! बताओ तौ पूरब पश्चिम के समुद्रों के बीच यह
 कैसा पहाड़ है, जिससे सुनहरी धारा ऐसी निकलती
 है, मनो सन्ध्या के मेघ से बर्गला ।

मानलि—महाराज ! यह तपस्या का छेत्र ; किन्नरों का हेमकूट
 नाम पर्वत है ।

(१७३) सुन मरोचि नाती कुबज, देव दनुज के नात ।
 तपत यहाँ परजापती, सहित सुरन की मात ॥

(१७२) पृथ्वी ऐसी जान पड़ती है, मानों ऊपर को उठते हुए पहाड़ों की चोटी
 से नीचे को खिसकती जाती है । वृक्षों की पोंड जो पत्तों में ढकी हुई
 सी थी सो खुलती जाती है । नदियों का पतलापन मिटता जाता है और
 भूमण्डल हमारे निकट आता हुआ ऐसा दीखता है मानों किसी ने
 ऊपर को उछाल दिया है ।

(१७३) मरोच के बेटे, ब्रह्मा के पोते, कश्यप प्रजापति अपनी स्त्री अदिती
 सहित इसी आश्रम में तपस्या करते हैं ।

दुष्यन्त—तौ कल्याण प्राप्त करने के इस अवसर को चूकना न चाहिये । आओ उनको प्रणाम करके चलेंगे ।

मातलि—यह विचार आप का बहुत उत्तम है ।

[दोनों बतरते हैं]

दुष्यन्त—(आश्चर्य से)—

देहा

(१७४) भयो न इन पहिय्या न तैं, कळू तनकळू शोर ।

धूरि उठति दीखी नहीं, मेकों काहू ओर ॥

जो अपने रथ कों रह्यो, तू मातलि सन्धानि ।

लग्यो न भूतल आय के, उतरत पस्यो न जानि ॥

मातलि—हे राजा ! आपके और इन्द्र के रथ में इतना ही तौ अन्तर है ।

दुष्यन्त—कश्यप का आश्रम कहाँ है ?

मातलि (हाथ से दिखला कर)—

चौपाई

(१७५) जहँ वह अचल ठूँठ की नाई ।

ठाडो मुनि मुखकरि रवि भाई ॥

आधे तन बाँबी चढ़ि आई ।

सर्प तुचा छाती लपटाई ॥

कँठ परी अधसूखी बेली ।

पीडित अङ्ग कसो जिमि सेली ॥

(१७४) रथ के पहियों का कुछ भी आहत न हुआ, न कुछ धूल उड़ी, न उतरना जान पड़ा ।

(१७५) कश्यप का आश्रम वही है जहाँ वह तपस्वी ठूँठ की भाँति सूरज की ओर दीठि लगाए खड़ा है । जिसके आधे शरीर पै दीमक चढ़ आई है, जनेऊ की ठौर साँप की खाल पड़ी है, गले से सूखी बेल लपट रही है, जदाओं में चिड़ियों ने घोंसले रख लिये हैं ।

जटाजूट कंधन पर छाए ।

जिन में पैछिन नीड़ बनाए ॥

दुष्यन्त—ऐसे उग्र तपवाले को नमस्कार है ।

मातलि (बोड़े की रास लेंच कर) महाराज ! अब हम प्रजापति के उस आश्रम में आ गए हैं, जो अदिती के सींचे हुए मन्दारों से सुशोभित है ।

दुष्यन्त—यह तौ स्वर्ग से भी अधिक निर्वृत्ति स्थान है, इस समय मैं ऐसा हो रहा हूँ मानों अमृत के कुण्ड में नहाता हूँ ।

मातलि (रथ ठेरा कर)—महाराज ! अब उतर लीजिये ।

दुष्यन्त (रथ से उतर कर)—तुम रथ छोड़ कर कैसे चलोगे ?

मातलि—मैंने यत्न कर दिया है, रथ आप से आप यहाँ रहेगा । चलिये मैं भी आप के साथ चलता हूँ । (रथ से उतरता है) महाराज ! इस मार्ग आओ, महात्मा ऋषियों का तपोवन देखो ।

दुष्यन्त—मैं आश्चर्य से देखता हूँ—

चौपाई

(१७६) करत और मुनितपित पियासा ।

जा थल माहि लेन हित बासा ॥

तहीं तपत ये तापस लोगू ।

त्यागि सकल इन्द्रिय के भोगू ॥

(१७६) जिस स्थान में बास पाने की मुनीश्वर अपने तप के द्वारा आर्कांक्षा रखते हैं, जहाँ कलशवृक्ष के वन में पवन पीकर प्राण रखने का अवसर है, जहाँ कनक कमल का पराग मिला हुआ पीला जल सन्ध्या-पूजन को मिलता है, जहाँ रत्नशिला पर बैठ कर ध्यान हो सकता है और अप्सराओं के सामने भी इन्द्रियों का वश में रखना बन पड़ता है, उसी स्थान में ये तपस्वी तपते हैं ।

यहाँ कल्पतरु कुञ्ज अनूपा ।
साधन अनिल वृत्ति अनुरूपा ॥
नित कृति काजें नीर सुहाए ।
हेम कमल रज मिलि पियराए ॥

देहा

बैठन काजें ध्यान कों, मणिशिल बिछीं अनेक ।

यहाँ अपसरन निकटहु, निवहति संजम टेक ॥

मातलि—सत्पुरुषों की अभिलाषा सदा ऊँची ही रहती है ।

(इधर उधर फिर कर) कहो, वृद्ध शाकल्य ! इस समय महात्मा कश्यप का करते हैं ? का कहा, दत्त की बेटी ने जो पतिव्रत धर्म पूछा था, वह उनके और और ऋषिपत्नियों को सुना रहे हैं ?

दुष्यन्त (कान लगा कर)—मुनियों के पास अवसर देख कर जाना चाहिये ।

मातलि (राजा की ओर देख कर)—आप इस अशोक वृद्ध की छाया में विश्राम करिये, तब तक मैं आपके आने का सन्देशा अवसर देख कर इन्द्र के पिता से कह आऊँ ।

[बैठता है]

दुष्यन्त—जैसा तुम्हें भावे ।

मातलि—मैं इस काम का करके अभी आता हूँ ।

दुष्यन्त (शगुन देख कर)—

देहा

(१७७) सिद्ध मनोरथ होने की, मोहिं कछू नहिं आस ।

फिर तू फरकति बाँह क्यों, वृथा करन उपहास ॥

(१७७) यहाँ मनोरथ सिद्ध होने की मुझे कुछ आशा नहीं है, फिर हे बाँह ! तू हँसी करने को क्यों फड़कती है । सच है जो मनुष्य अपने सामने आये हुए सुख को लात मारता है, वह उसके पलटे दुख भोगता है ।

सन्मुख सुख आयो कहूँ, नीचो गयो जु होय !

पलटि दुःख बनिजात है, निश्चय जानो सोय ॥

(नेपथ्य में)—अरे देख ! सपलता मत कर, क्या तू अपनी बान नहीं छोड़ेगा ?

दुष्यन्त (कान लगा कर)—हैं ! इस स्थान में सपलता का क्या काम, यह ताड़ना किस को हो रही है ? (जिधर बोक सुनाई दिया उधर देख कर और आश्चर्य करके) अहा ! यह किसका पराक्रमी बालक है, जिसे दो तपस्विनी रोक रही हैं ?

दोहा

(१७८) आधो पीयो मात थन, जो शावक मृगराज ।

ताहि घसीटत केश गहि, यह शिशु खेलन काज ॥

(एक बालक सिंह के बच्चे को घसीटता हुआ लाता है और दो तपस्विनी उसे रोकती हुई आती हैं)

बालक—अरे सिंह ! तू अपना मुँह खोल मैं तेरे दाँत गिनाँगा ।

पहिली तपस्विनी—हे अन्याई ! तू इन पशुओं को क्यों सताता है ?

हम तो इन्हें बाल बच्चों के समान रखती हैं । हाय !

तेरा साहस बढ़ता ही जाता है, तेरा नाम ऋषियों ने

सर्वदमन रक्खा है सो ठीक ही है ।

दुष्यन्त (आप ही आप)—अहा ! क्या कारण है कि मेरा स्नेह

इस बालक में ऐसा होता आता है, जैसा पुत्र में होता

है । हो न हो यह हेतु है कि मैं पुत्रहीन हूँ ।

दूसरी तपस्विनी—जो तू बच्चे को छोड़ न देगा, तो यह सिंहनी

तुझ पर दौड़ेगी ।

(१७८) सिंहनी के बच्चे को जिसने अपनी माता के थनों से आधा ही दूध पिया है खेलने को घसीटे लाता है ।

बालक (मुस का कर)—ठीक है सिंहनी का मुझे ऐसा ही डर है ।

[मुँह खिड़ाता है]

दुष्यन्त—

दोहा

(१७६) दीखत बालक मोइ यह, तेजस्वी बलबीर ।

काठ काज जैसे अग्नि, ठांडो है मतिधीर ॥

पहिली तपस्वनी—हे प्यारे बालक ! तू सिंह के बच्चे को छोड़ दे,
मैं तुझे और खिलौना दूँगी ।

बालक—कहाँ है ला दे, दे ?

[हाथ पसारता है]

दुष्यन्त—इसके तौ लक्षण भी चक्रवर्तियों के से हैं, क्योंकि—

दोहा

(१८०) माँगि खिलौना लैन कों, जबहिं पसाखो हाथ ।

जालगुंथी सी आंगुरी, सब दीखीं एक साथ ॥

मनहुँ खिलायो कमल कछु, प्रात अरुण ने आय ।

नैक न पखुरिन बीच में, अन्तर परत लखाय ॥

(१७९) यह लड़का बड़ा प्रतापी दीखता है क्योंकि ऐसा खड़ा है जैसे ईंधन
चाहती हुई प्रज्वलित अग्नि ।

(१८०) खिलौना लेने को जब इसने हाथ पसारा तौ मिली हुई अँगुलियों से
हाथ ऐसा शोभायमान दिखलाई दिया, मानों सबेरे खिलता हुआ लाल
कमल है । जिसकी पँखरियाँ अभी अलग नहीं हुई । (यह लक्षण
चक्रवर्ती का है) ।

दूसरी तपस्विनी—हे सुवता ! यह बातों से न मानेगा, जा मेरी कुटी में एक मिट्टी का मोर ऋषिकुमार मारकंडेय के खेलने का रक्खा है, उसे ले आ ।

पहली तपस्विनी—मैं अभी लिये आती हूँ ।

[जाती है]

बालक—तब तक मैं इसी सिंह के बच्चे से खेलूँगा ।

[यह कह कट तपस्विनी की ओर हंसता है]

दुष्यन्त—(आप ही आप)—इसके खिलाने का मेरा जो कैसा ललचाता है ?

घनाक्षरी

(१८१) हाँसी बिनहेत माहि दीखति बतीसी कछू निकसी मनो है पाँति ओछी कलिकान की । बोलन चाहत बात निकसि जाती टूटी सी लागति अनूठी मोठी बानी तुतलान की ॥ गोद ते न प्यारी और भावे मन कोई ठाँव दौरि दौरि बैठै छोड़ि भूमि अँगनान की । धन्य धन्य वे है नर मैले जो करत गात कनिया लगाइ धूरि ऐसे सुधनान की ॥

दूसरी तपस्विनी—यह मेरी बात तो कान नहीं धरता । (इधर उधर देख कर) कोई ऋषिकुमार यहाँ है ? (दुष्यन्त को देख कर) महारमा ! तुम्हीं आओ, कृपा करके इस बली बालक के हाथ से सिंह के बच्चे का छुड़ाओ । यह इसे खेल में ऐसा पकड़ रहा है कि छुड़ाना कठिन है ।

(१८२) बिना बात हंसना, तुतला कर बात कहना, दौड़ दौड़ कर गोद में जाना, ये बातें बालकों की बड़ी प्यारी होती हैं । उन मा बापों को धन्य है जो ऐसे लड़कों को गोद में लेकर उनके शरीर की धूल से अपना अँग मैला करते हैं ।

दुष्यन्त—अच्छा ।

[लड़के के पास जा कर धीरे-धीरे कर
चौपाई

(१८२) आश्रम वासिन की यह रीती ।
पशु पालन में राखत प्रीती ॥
सो ऋषि सुत दूषित तैं कीनी ।
उलटो वृत्ति यहाँ क्यों लीनी ॥
करत जन्मही तैं ये काजा ।
जो नहिं सोहत मुनिन समाजा ॥
तैं यह कियो तपोवन ऐसो ।
कृष्ण सर्प शिशु चन्दन जैसे ॥

दूसरी तपस्विनी—हे बड़भागी ! यह ऋषिकुमार नहीं है ।

दुष्यन्त—सत्य है, यह तो इसके आकारसदृश काम ही कहे देते हैं,
परन्तु मैंने तपोवन में इसका बास देख ऋषिपुत्र जाना
था । (जैसी मन में लालसा है लड़के का हाथ अपने हाथ में ले
कर आप ही आप) अहा !

देहा

(१८३) ना जानू का वंश कौ, अंकुर यहै कुमार ।
मो-तन एतौ सुख भयो, जाहि छुअत एकबार ॥

(१८२) हे ऋषिकुमार ! तैने आश्रम के विरुद्ध काम करके अपने पुरखों के
आचरणों को जिसमें पशुओं की रक्षा ही मूल है, क्यों ऐसे दूषित
किया है, जैसे साँप का बच्चा चन्दन के वृक्ष को करता है ।

(१८३) मैं नहीं जानता हूँ कि यह बालक किस वंश का है, जिसे एक बार
छूने से मेरे शरीर को इतना सुख हुआ । फिर जिसके अंग से यह
उत्पन्न हुआ है, उस बड़भागी को इससे कितना सुख न होता होगा ।

वा बड़ भागी के हिये, कितो न होय उमंग ।
उपज्यो जाके अंग तै, ऐसो याको अङ्ग ॥

तपस्विनी (दोनों की ओर देख कर)—बड़े अचम्भे की बात है ।

दुष्यन्त—तुमको क्यों अचम्भा हुआ ?

तपस्विनी—इसलिये हुआ कि इस बालक की और तुम्हारी
उम्हार बहुत मिलती है और तुम्हें जाने बिना भी
इसने तुम्हारा कहना मान लिया ।

दुष्यन्त (लड़के को खिछाता हुआ)—हे तपस्विनी ! जो यह ऋषि-
पुत्र नहीं है तौ किस का वंश है ?

तपस्विनी—यह पुरुवंशी है ।

दुष्यन्त (आप ही आप)—यह हमारे वंश का कैसे हुआ और इस
भगवती ने मेरी उम्हार का इसे क्यों कहा ? हाँ पुरुवं-
शियों में यह रीति तौ निश्चय है कि—

दोहा

(१८४) छितिपालन के कारने, पहले लेत निवास ।
जाय भवन ऐसेन में, जहँ सब भोग बिलास ॥
पाछें बन में बसत है, लै तरवर की छाँह ।
इन्द्री जीतन कौ नियम धरि एकहि मन माँह ॥

(१८४) पुरुवंशियों की यह रीति है कि तरुण अवस्था में भोग बिलास भी
करते हैं और प्रजा को भी पालते हैं, फिर बुढ़ापे में बानप्रस्थ में आश्रम
ले कर बन में वृक्षों के नीचे कुटी बना कर रहते हैं और केवल इन्द्रियों
को वश रखने का नियम करते हैं !

(प्रगट) परन्तु यह स्थान ऐसा नहीं है जहाँ मनुष्य अपने बल से आ सके ।

दूसरी तपस्विनी—तुम सब कहते हो, इसकी मा मेन का नाम अस्सरा की बेटी है, उसी के प्रताप से इनका जन्म देवपितर के इस तपोवन में हुआ है ।

दुष्यन्त (आप ही आप) —यह दूसरी बात आशा उपजाने वाली हुई । (प्रगट) भला इसकी मा किस राजर्षि की पत्नी है ?

दूसरी तपस्विनी—जिसने अपनी विवाहिता स्त्री को बिना अपराध छोड़ दिया, जिसका नाम कौन लेगा ?

दुष्यन्त— (आप ही आप)—यह कथा तौ मुझी पर लगती है, अब इस बालक की मा का नाम पूछूँ (सोच कर) परन्तु पराई स्त्री का वृत्तान्त पूछना अन्याय है ।
(तपस्विनी मिट्टी का मोर लिये आती है)

तपस्विनी—हे सर्वदमन ! यह शकुन्तलावण्य देख ।

बालक (बड़े भाव से देख कर) —कहाँ है शकुन्तला मेरी मा ?

दोनों तपस्विनी—यह मा का प्यारा, नाम से धोखा खा गया ।

दूसरी तपस्विनी—मुन्ना, मैंने तो यह कहा था कि, इस मिट्टी के सुन्दर मोर को देख ।

दुष्यन्त (आप ही आप)—क्या इसकी मा का नाम शकुन्तला है ? हुआ करो, एक नाम के अनेक मनुष्य होते हैं । कहीं मुझे दुःख देने को नाम का उच्चारण ही मृगतृष्णा बनाया हो ?

बालक—मुझे यह मोर बहुत अच्छा लगता है।

[खिलौने को लेता है]

पहली तपस्विनी (बबड़ा कर)—हाय ! हाय ! इसकी बाँह से रक्षाबन्धन कहाँ गया ?

दुष्यन्त—घबड़ाओ मत, जब यह नाहर के बच्चे से खेल रहा था इसके हाथ से गंडा गिर गया, सो यह पड़ा है।

[गंडा उठाने को झुकता है]

दोनों तपस्विनी—मत उठाओ, मत उठाओ। हाय ! इसने क्यों उठा लिया ?

[है दोनों भ्रमों से छाती पर हाथ रखकर एक दूसरी की ओर देखती है]

दुष्यन्त—तुमने मुझे इसके उठाने से किस लिये बरजा ?

दूसरी तपस्विनी—सुनो महाराज ! इस गंडे का नाम अपराजित है। जिस समय इस बालक का जातकर्म हुआ, महात्मा मरीचि के पुत्रकश्यप ने यह दिया था। इसमें यह गुण है कि, कदाचित् धरती पर गिर पड़े तो इस बालक को और इसके मा बाप को छोड़ और कोई न उठा सके।

दुष्यन्त—और जो कोई उठा ले तो।

पहली तपस्विनी—तो यह तुरन्त साँप बन कर उसे डसता है।

दुष्यन्त—तुमने ऐसा होते कभी देखा है।

दोनों तपस्विनी—अनेक बार।

दुष्यन्त (प्रसन्न हो कर आप ही आप)—अब मेरा मनोरथ पूरा हुआ, मैं'कों आनन्द न मनाऊँ ?

[लड़के को गोद में लेता है]

दूसरी तपस्विनी—आओ सुव्रता यह सुख का समाचार बल के शकुन्तला को सुनावें, यह बहुत दिन से वियोग के कठिन नेम कर रही है।

[दोनों जाती हैं]

बालक—मुझे छोड़ो मैं अपनी मा के पास जाऊँगा।

दुष्यन्त—हे पुत्र ! तू मेरे सङ्ग चल कर अपनी मा को सुख दीजो।

बालक—मेरा पिता तौ दुष्यन्त है, तुम नहीं हो।

दुष्यन्त (मुसका कर)—यह बिवाद भी मुझे प्रतीत कराता है।

(एक बेनी धारन किये शकुन्तला आती है)

शकुन्तला (आपही आप)—मैं सुन तौ चुकी हूँ कि सर्वदमन के गंडे ने अवसर पा कर भी रूप न पलटा ; परन्तु अपने भाग्य का मुझे कुछ भरोसा नहीं। हाँ इतनी आशा है कि कदाचित् सानुमती का कहना सच्चा हो गया हो।

दुष्यन्त (शकुन्तला को देखकर)—अहा ! यही प्यारी शकुन्तला है।

दीहा

(१८५) नियम करत बीते दिवस, दूबर अङ्ग लखात।

सीस एक बेनी धरे, बसन धूसरे गात ॥

(१८५) बहुत दिन मत साधते बीते हैं इससे शरीर दुबला हो गया है। सिर पे एक ही बेनी है और वस्त्र मैले हैं। सब सुख छोड़ कर मुग्न कठोर के लिये अपने शील सुभाव से विरह का दुख सह रही है।

दीर्घ बिरहा व्रतसती, साधति सुख बिसराय ।

मो निरदय के कारने, अपने शील सुभाय ॥

शकुन्तला (पछतावे में रूप बिगड़े हुए राजा को देखकर)—यह तो मेरा पति सा नहीं है, और जो नहीं है तो कौन है ? जिसने रत्नाबन्धन पहिने हुए मेरे बालक को अङ्ग लगा के दूषित किया ?

बालक (दौड़ता हुआ माता के पास)—माता ! यह पुरुष कौन है जिसने पुत्र कह कर मुझे गोद में ले लिया ?

दुष्यन्त—हे प्यारी ! मैंने तेरे साथ निठुराई तो बहुत की, परन्तु परिणाम अच्छा हुआ ; क्योंकि मैं देखता हूँ कि तूने मुझे पहचान लिया ।

शकुन्तला (आप ही आप)—अरे मन ! तू धीरज धर अब मुझे भरोसा हुआ कि बिधाता ने ईर्ष्या छोड़ मुझ पर दया की है (प्रगट) यह तो निश्चय मेरा ही पति है ।

दुष्यन्त—हे प्यारी !

देाहा

(१८६) सुधि आई सब भ्रम मिट्यो, सफल भय मम काज ।
धन्य भागि सुमुखी लखूँ, सन्मुख ठाढ़ी आज ॥
अन्धकार मिटि ग्रहण की, दूर होत जब सोग ।
तुरत चन्द्र सौं रोहिनी, करति आय संयोग ॥

शकुन्तला—महाराज की—

[इतना कह कर गदगद बानी हो आँसू गिराती है]

(१८६) यह धन्य घड़ी है कि मेरा भ्रम मिटा और अपनी पत्नी मैंने सामने देखी जैसे ग्रहण मिटने पर चन्द्रमा से रोहणी का मिलाप होता है ।

दुष्यन्त—

दोहा

(१८७) यदपि शब्द जय कंठ में, आंसुन रोव्यो आय ।
 पै न कछु शंका रही, मैं लीनी जय पाय ॥
 दरशन तो मुख को भयो, सुमुखी मोहि रसाल ।
 बिना लखोटा हू लगे, अधर मोठ अति लाल ॥

बालक—हे मा ! यह पुरुष कौन है ?

शकुन्तला—बेटा ! अपने भाग्य से पूछ ।

दुष्यन्त (शकुन्तला के पैरों में गिरता है)—

दोहा

(१८८) मन तैं प्यारी दूर अब, डारि बिलग अपमान ।
 बा किन मेरे हिय रह्यो, प्रबल कछु अज्ञान ॥
 तामस बन गति होति यह, बहुतन की सुखबार ।
 फँकत जमि अहि जानि के, अन्ध दिये गलहार ॥

(१८७) हे सुन्दरी ! मैंने जान लिया तू जय शब्द कहा चाहती थी सो आंसुओं ने रोक लिया । परन्तु मेरी जय होने में अब कुछ सन्देह नहीं, क्योंकि अङ्गराग रहित और लाल होठों सहित तेरा मुख मैंने देख लिया ।

(१८८) हे प्यारी अब तू अपमान के पछतावे को भूल जा, जिस समय मैंने तुझे स्वीकार न किया मेरा चित भ्रम में था और ऐसा बहुधा देखा गया है कि, मनुष्य अज्ञान वश होकर सामने आए हुए सुख का अनादर कर देते हैं । जैसे अन्धे के गले में हार पहनाया जाय और वह उसे साँप जान कर फँक दे ।

शकुन्तला—उठो प्राणपति ! उठो, उन दिनों मेरे पूर्व जन्म के पाप उदय हुए थे, जिन्होंने मेरे सुकर्मों का फल मँट ; मेरे दयावाव पति को मुझ से निस्नेह कर दिया (राजा बूढ़ा है)—अब यह कहो कि मुझ दुखिया की सुध तुम्हें कैसे आई ?

दुष्यन्त—जब सन्ताप का काँटा मेरे कलेजे से निकल जायगा तब सब कहूँगा ।

दोहा

(१८६) देखो अनदेखी करी, मैं वा दिन भ्रम पाय ।
तेरी आँसू बूँद जो, परी अधर पै आय ॥
सो पछतायो आज मैं, पदमिनि लेहूँ मिटाय ।
या आँसू को पोंछिजो, रह्यो पलक तो छाय ॥

[आँसू पोंछता है]

शकुन्तला (राजा की अँगुली में अँगूठी देख कर)—क्या यह वही मुँदरी है ?

दुष्यन्त—हाँ इसी के मिलते मुझे तेरी सुध आई ।

शकुन्तला—इसने बुरा किया कि जब मैं अपने स्वामी को प्रतीत कराती थी, यह दुर्लभ हो गई ।

दुष्यन्त—हे प्यारी ! अब तू इसे फिर पहन, जैसे ऋतु के आने पर लता फिर फूल धारण करती है ।

शकुन्तला—मुझे इसका विश्वास नहीं रहा तुम्हीं पहने रहो ।

(१८९) उस दिन होठ पर गिरती हुई तेरी आँसू की बूँद मैंने भ्रम के वश देखी अनदेखी की थी, इस पछताए को आज मैं तेरे पलक पर छाये हुए आँसू को पोंछ कर मिटाऊँगा ।

(मातलि आता है)

मातलि—महाराज ! धन्य है यह दिन कि आप ने फिर धर्मपत्नी पाई और पुत्र का मुख देखा ।

दुष्यन्त—हाँ आज मेरा मनोरथ सफल हुआ । हे मातलि ! तुम यह तो कहो कि इस वृत्तान्त को इन्द्र ने जान लिया था कि नहीं ।

मातलि (हँस कर)—देवताओं से क्या छुपता है ? अब आओ महारमा कश्यप आपको दर्शन देंगे ।

दुष्यन्त—प्यारी ! तू पुत्र का हाथ थाम ले, मैं तुम्हें आगे ले कर महात्मा का दर्शन करना चाहता हूँ ।

शकुन्तला—तुम्हारे संग बड़ों के सम्मुख जाते मुझे सकुच लगती है ।

दुष्यन्त—ऐसे शुभ अवसर पर ऐसा ही करना उचित है, आओ ।
[सब घूमते हैं]

(आसन पर बैठे हुए कश्यप और अदिती दीखते हैं)

कश्यप—(राजा की ओर देख कर)—हे दत्तसुता !

दोहा

(१६०) है यह तेरे पुत्र को, रन अगमानी भूप ।
नाम जासु दुष्यन्त है, कीरति जासु अनूप ॥

(१९०) तेरे पुत्र की सेना का अग्रगामी मृत्युलोक का राजा दुष्यन्त यही है । इसी के धनुष के प्रताप से इन्द्र का बज्र अब शोभा मात्र का रह गया है

जाके धनुष प्रताप तै, लहि के अब बिभ्राम ।
शोभा हो की रहि गयो, इन्द्रबजू अभिराम

अदिती—बड़ाई तौ इसके रूप ही से दीखती है ।

मातलि (दुष्यन्त से)—हे राजा ! ये देवताओं के माता पिता आप
की ओर प्यार की दृष्टि से ऐसे देख रहे हैं ; जैसे कोई
अपने पुत्र को देखता है । आपो इनके निकट चलो ।

दुष्यन्त—हे मातलि ! क्या कश्यप और अदिती यही हैं ?

खोपाई

(१६१) इनहि दुहुन कीं ऋषि मुनि धावैं ।
द्वादस रवि के जनक बतावैं ॥
हैं मरीचि सुत दक्षसुता ये ।
नाती अरु नातिन ब्रह्मा के ॥
सुरनायक इनहीं ने जायो ।
जो तिरलोकी नाथ कहायो ॥
बिधि ते परे पुरुष जो काऊ ।
इनकी कोख अवतल्यो सोऊ ॥

मातलि—हाँ यही हैं ।

दुष्यन्त (प्रणाम कर)—हे महात्माओं ! तुम्हारे पुत्र का आज्ञाकारी
दुष्यन्त प्रणाम करता है ।

कश्यप—बेटा ! तू खिर-जीव हो कर पृथिवी का पालन करे ।

(१६१) क्या द्वादश आदित्यों के माता पिता ये ही हैं ? इन्हीं से त्रिभुवननाथ
इन्द्र का जन्म हुआ है ? इन्हीं की कोख में बिष्णु ने बावन औतार
होकर जन्म लिया था ? ये ही मरीचि के पुत्र और दक्ष की पुत्री अर्थात्
ब्रह्मा के नाती नातिन हैं ?

अदिती—बेटा ! तू रन में अजित हो ।

शकुन्तला—मैं भी आपके चरणों में बालक समेत बन्दन करती हूँ ।

कश्यप—हे पुत्री !

दोहा

(१६२) भरता तेरो इन्द्र सम, सुत जयन्त उपमान ।

और कहा बर देहुं तुहि, तू हो सखी समान ॥

अदिती—हे पुत्री ! तू सदा पति की प्यारी हो और यह बालक दीर्घायु होकर दोनों कुल का दीपक हो । आभो बैठो ।

[सब प्रजापति के सामने बैठते हैं]

कश्यप (एक एक की ओर देख कर दुष्यन्त से)—

दोहा

(१६३) नारि सती सुत शुद्ध कुल, तुम राजन सिरमौर ।

श्रद्धा विधि अरु वित्त सम, मिले धन्य इक ठौर ॥

दुष्यन्त—हे महर्षि ! आपका अनुग्रह बड़ा अपूर्व है ।

दोहा

(१६४) फूल लगें तब होत फल, घन आवे तब मेंह ।

कारण कारज गति यही, तामें नहिं सन्देह ॥

(१९२) तेरा पति इन्द्र के समान और बेटा जयन्त के समान और तू सखी के सम्मान हो इससे अधिक और क्या आशीर्वाद तुझे दूँ ।

(१९३) तेरी सखी पतिव्रता और बेटा दोनों कुल का शुद्ध और तू आप बड़ा राजा तुम तीनों का ऐसा जोग हुआ है, जैसे श्रद्धा, वित्त और बिधि का ।

(१९४) पहले फूल आता है तब फल लगता है, पहले बादल आता है तब मेंह बरसता है, परन्तु तुम्हारी कृपा निराली है कि, मुझे तुम्हारा आशीर्वाद पीछे मिला, काम सिद्ध पहले ही हो गया ।

पैं अज्ञ त तुम्हरी कृपा, देखी मैंने आज ।
 बर तुमने पाछे दियो, पहले पुज्यो काज ॥

मातलि—प्रजापतियों की कृपा का यही प्रभाव है ।

दुष्यन्त—हे भगवान् ! आप को इस दासी का विवाह मेरे साथ गान्धर्व रीति से हुआ था, फिर कुछ काल बीते मायके के लोग इसे मेरे पास लाये । उस समय मेरी ऐसी सुध भूली कि इसे पहचान न सका और इसका त्याग करके मैं आप के सगोत्र कन्व का अपराधी बना । पीछे अँगूठी देख कर मुझे सुध आई कि कन्व की बेटी से मेरा व्याह हुआ था । यह वृत्तान्त अश्वरज सा दीखता है ।

खोपाई

(१६५) लखि सनमुख हाथी जिमि कोई ।

कहे कि यह हाथी नहिं होई ॥

निकसि जाय तब शङ्का लावे ।

हां कबहुं कबहुं ना गावे ॥

खोज देखि फिर हाथी जाने ।

निश्चय भूल आपनी माने ॥

याही बिधि गति मोमन करी ।

उलटि पलटि लीनी बहु फेरी ॥

(१६५) जब शकुन्तला मेरे सामने आई मैंने कहा कि इससे मेरा व्याह कभी नहीं हुआ, फिर जब मेरे पास से चली गयी तब मुझे कुछ कुछ शङ्का हुई कि कदाचित् इससे व्याह हुआ होगा निदान जब अँगूठी देखी तब व्याह का निश्चय हुआ । जैसे सामने हाथी देख कर कोई कहे कि, यह हाथी नहीं है । फिर जब चला जाय तब कहे कि हाथी होगा अथवा न होगा और जब उसकी खोज देखें तब निश्चय कर जाने कि हाथी ही था ।

कश्यप—हे बेटा ! जो कुछ अपराध हुआ उसका सोच अपने मन से दूर कर ; क्योंकि तुझे उस समय भ्रम ने घेर लिया था । अब सुन—

दुष्यन्त—मैं एकाम्र चित्त हो कर सुनता हूँ आप कहें ।

कश्यप—जब अप्सरातीर्थ पर जा कर मेनका ने शकुन्तला को व्याकुल देखा तो उसे ले कर अदिती के पास आई । मैंने उसी समय ध्यान शक्ति से जान लिया कि तैने अपनी पतिव्रता को केवल दुर्वासा के शापवश छोड़ा है और इस शाप की अवधि मुँदरी क दर्शन तक रहेगी ।

दुष्यन्त (आप ही आप)—तौ मैं धर्मपत्नी परित्याग के अपवाद से बच गया ।

शकुन्तला (आप ही आप)—धन्य है कि स्वामी ने मुझे जान बूझ कर नहीं त्यागा, परन्तु मुझे सुध नहीं है कि, शाप कब हुआ । अथवा उस समय बिरह के सोच में वेसुध हूँगी, क्योंकि मेरी सखियों ने मुझे जता दिया था कि अपने भरता को अँगूठी दिखा देना ।

कश्यप—हे पुत्री ! अब तू कृतार्थ हुई अपने पति का अपराध मत समझ ।

देहा

(१६६) निदुर भयो पति भूल सुधि, तू त्यागी वश शाप ।
दई तोहि अब भ्रम मिटें, सब विधि प्रभुता आप ॥

(१६६) तेरे पति ने शाप के वश सुध भूल कर तुझी छोड़ा था, अब उसका भ्रम मिट गया और तुझी सब भाँति वैभव मिला । जैसे मैल पड़ जाने से दरपन में प्रतिबिम्ब नहीं रहता; परन्तु मैल धो बालने से फिर पड़ने लगता है ।

काया तरति न मुकर में, मैल कछू जो होइ ।

पै दीखत है सहज ही, जब डाखी वह धोइ ॥

दुष्यन्त—महात्मा ! यह मेरे वंश की प्रतिष्ठा है ।

[बालक का हाथ पकड़ता ।

कश्यप—यह भी जान लो कि यह बालक चक्रवर्ती होगा ।

दाहा

(१६७) सुख गामी रथ पै चढ्यौ, उतरि महोदधि पार ।

जीतेगा यह बीर नर, तीन दीप अरु चार ॥

किये पशुन सब बस यहाँ, सर्वदमन भी नाम ।

प्रजा भरण करि होयगो, फेरि भरत अभिराम ॥

दुष्यन्त—जिसके आपने संस्कार किये हैं, उससे हमको किस किस बड़ाई की आशा नहीं है ।

अदिती—हे भगवन ! शकुन्तला के मनोरथ सिद्ध हुए इसलिये इसके पिता को भी यह वृत्तान्त सुनाना चाहिये और इसकी माता मेनका तो मेरे ही पास है, वह सब जानती ही है ।

शकुन्तला (आप ही आप)—इस भगवता ने तो मेरे ही मन का कही ।

कश्यप—अपने तप के बल से कन्व मुनि सब वृत्तान्त जानते होंगे

(१९७) यह तुम्हारा वीर पुत्र सातों द्वीपों को जीतेगा और जैसे इस आश्रम में दुष्ट पशुओं को दबा कर इसने सर्वदमन नाम पाया है । आगे प्रजा का भरण पोषण करके भरत कहलावेगा ।

दुष्यन्त—इसी से मुनि ने भुक्त पर क्रोध न किया ।

कश्यप—तौ भी हमें उचित है कि कन्व को यह मंगल समाचार सुनावें । कोई है रे यहाँ ?

(एक चेला आता है)

चेला—महात्मा ! क्या आज्ञा है ?

कश्यप—हे गालव ! तू अभी आकाश मार्ग होकर कन्व के पास जा और मेरी ओर से यह मंगल समाचार सुना दे कि, दुर्वासा का शाप मिट जाने पर आज दुष्यन्त ने पुत्रवती शकुन्तला पहचान कर अङ्गीकार कर ली ।

चेला—जो आज्ञा ।

[जाता है]

कश्यप—अब पुत्र तुम भी स्त्री बालक समेत इन्द्र के रथ पर चढ़ आनन्द से अपनी राजधानी को सिंघाओ ।

दुष्यन्त—जो आज्ञा ।

कश्यप—और सुन लो—

चौपाई

(१६८) इन्द्र मेह मुक्तौ बरसावे ।

तार्ते तो परजा सुख पावे ॥

करि करि यज्ञ तुहू बहुतेरे ।

तुष्ट करे मन देवन केरे ॥

या विधि साधि परस्पर काजू ।

सौ जुग करत रहै तुम राजू ॥

१६८) इन्द्र बहुत सा मेह बरसावे जिससे तुम्हारी प्रजा को सुख हो और तुम बहुत से यज्ञ करो जिससे स्वर्ग के देवता तृप्त हों, इस भाँति एक दूसरे का उपकार करते हुए दोनों तुम सौयुग तक राज करते रहो, जिससे दोनों लोक बसने वाले सुखी रहें और तुम दोनों के जस गाते रहें ।

दुहु लोक बासी सुख पावें ।

तुम दोहुन के मिलि अस ग.वें ॥

दुष्यन्त—हे महात्मा ! जहाँ तक हो सकेगा मैं इस सुख के निमित्त
सब उपाय करूँगा ।

कश्यप—कहो पुत्र ! अब तुम्हें और क्या आशीर्वाद दूं ?

दुष्यन्त—जो आप ने कृपा की है इससे अधिक आशीर्वाद क्या
होगा और कदाचित् आप पूछते हो हैं तो भरत का यह
काम पूरा होने दीजिये—

शिवरनी

(१६६) प्रजा काँजें राजा नित सुकृति पै उद्यत रहैं ।

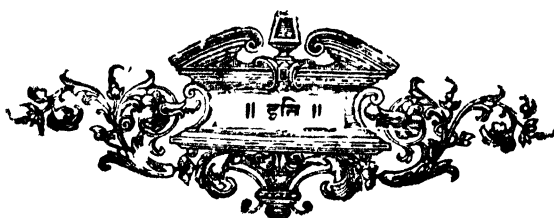
बड़े वेदज्ञानी हित सहित पूजें सरसुती ॥

उमास्वामी शम्भू जगतपति नीलोहित प्रभू ।

छुटावें मोहू को बिपति अति आवागवन सों ॥

कश्यप—तथास्तु ।

[सब बाहर जाते हैं]



(१९९) राजा लोग अपनी प्रजा के सुख निमित्त अच्छे काम करें, वेदपात्री
ब्राह्मण सरस्वती की सेवा करते रहें और नीलोहित अंग महादेव
जी मुझ आवागमन की पीड़ा से छुड़ावें ।

